1 हिन्दी भाषा का इतिहास

आलोचनात्मक प्रश्न

1.1. प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ—वैदिक एवं लौकिक संस्कृत

1. हिन्दी भाषा के उद्‌भव एवं विकास का परिचय दीजिए। **(Imp.)**

अथवा

हिन्दी भाषा के इतिहास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–हिंदी भाषा का इतिहास–यद्यपि भाषा-विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र अत्यधिक व्यापक हो गया है और इसके आरंभ काल से लेकर आज तक भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है, तथापि भाषा के उद्‌भव की कहानी आज भी भाषा-विज्ञान के लिए रहस्यमयी बनी हुई है। संसार की कौन सी भाषा आदिभाषा थी और उससे किन-किन भाषाओं का किन-किन रूपों में विकास हुआ, यह आज भी अनिर्णीत है। अनुमान के आधार पर भाषा के उद्‌भव के सम्बन्ध में भाषा वैज्ञानिकों ने कुछ प्रारंभिक प्रयास किए हैं और वे ही आज भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार बने हुए हैं। भाषा किसी एक व्यक्ति से उत्पन्न नहीं हुई है, वरन् यह एक विशाल जन समूह की वाणी का सामान्य प्रतिफलन है। इस प्रकार भाषा समाज की वाणी का समवायी प्रारूप है। ऐसी स्थिति में किसी भी भाषा का अविर्भाव काल को या उद्‌भव को एक निश्चित सीमा रेखा पर नहीं माना जा सकता। यही बात हिन्दी के पक्ष में भी सत्य है।

भाषा सम्पर्क पर आधुनिक भाषा-विज्ञान व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक, राजनीतिक, भौगोलिक और सामाजिक कारणों से जब भाषाएँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो उनमें एक-दूसरे के बीच आदान-प्रदान के साथ एक-दूसरे को प्रभावित करने और एक-दूसरे से प्रभावित होने की प्रक्रिया भी चलती रहती है।

हिन्दी का इतिहास वस्तुतः वैदिक काल से आरंभ होता है। उससे पहले आर्यभाषा का स्वरूप क्या था इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता। साथ ही भारत में आर्यों का आगमन किस काल से हुआ इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। साथ ही भारत में आर्यों का आगमन किस काल से हुआ इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। साधारणतया यह माना जाता है कि 2000 से 1500 ई. पूर्व भारत के उत्तर पश्चिम सीमांत प्रदेश के आर्यों के दल आने लगे। यहीं पहले से बसी हुई अनार्य जातियों को परास्त कर आर्यों के दल आने लगे। यहीं पहले से बसी हुई अनार्य जातियों को परास्त कर आर्यो ने सप्त सिंधु, जिसे हम आधुनिक पंजाब के नाम से जानते हैं, देश में आधिपत्य स्थापित कर लिया। यहीं से वे धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ते गए और मध्यप्रदेश, काशी, कोशल, मगध, विदेह, अंग, बंग तथा कामरूप में स्थानीय अनार्य जातियों को पराभूत करके उन्होंने वहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया। इस प्रकार समस्त उत्तरापथ में अपना राज्य स्थापित करने के बाद आर्य संस्कृति दक्षिणापथ की ओर अग्रसरित हुई और यूनानी राजदूत मेगास्थनीज के भारत आने तक आर्य संस्कृति दक्षिणापथ की ओर अग्रसरित हुई और यूनानी राजदूत मेगास्थनीज

के भारत आने तक आर्य संस्कृति सुदूर दक्षिण तक फैल चुकी थी। आर्यों की विजय केवल राजनीतिक विजय मात्र नहीं थी। वे अपने साथ सुविकसित भाषा एवं यज्ञ परायण संस्कृति भी लाए थे। उनकी भाषा एवं संस्कृति भारत में प्रसार पाने लगी, किन्तु स्थानीय अनार्य जातियों का प्रभाव भी उस पर पड़ने लगा। मोहन जोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाइयों से सिन्धु घाटी की जो सभ्यता प्रकाश में आई है, उससे स्पष्ट है कि यायावर पशुपालक आर्यों के आगमन से पूर्व सिन्धु घाटी सभ्यता का बहुत अधिक विकास हो चुका था। अतः यह संभव है आर्यों की भाषा, संस्कृति एवं धार्मिक विचारों पर अनार्य जाति की संस्कृति एवं संपर्क का पर्याप्त प्रभाव पड़ा होगा। अनार्य जातियों के योगदान के कथन से तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी अथवा प्राकृतों में जो कुछ है वह आर्यों की ही भाषाओं से लिया गया है अथवा आर्यों की सारी संपत्ति प्राकृतों और हिंदी को प्राप्त हो गयी। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि युग-युग की भाषा में यहाँ तक कि वैदिक संस्कृति और लौकिक संस्कृत में भी बहुत से अनार्य तत्त्व सम्मिलित थे। भारत में तथा भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक अनार्य जातियाँ रहती थीं जिनमें निग्राटु, किरात, ऑस्ट्रिक या निषाद तथा द्रविड़ (दस्यु) का प्रसार बहुत व्यापक था। निग्रोटु अनार्य जाति का आगमन अफ्रीका से अवश्य हुआ किन्तु वे समुद्री तट के आस-पास के क्षेत्रों में रहे और वहीं से दक्षिण पूर्वी द्वीपों की ओर निकल गए। मध्यदेश के लोगों से उनका संपर्क नहीं हो पाया। वैदिक साहित्य में इनका कोई प्रमाण नहीं मिलता। किरात पहाड़ी लोग थे जिनके वंशज आज भी हिमालय प्रदेश के पश्चिम से पूर्व तक फैले हुए हैं। इन लोगों का आर्यों से साथ संपर्क हुआ। फलस्वरूप इनके बीच संस्कृतियों और भाषाओं का आदान-प्रदान भी हुआ। यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध और किन्नर आदि पहाड़ी जातियों की संस्कृति परवर्ती आर्य साहित्य में भरपूर मिलती है। इन्हीं के देवताओं, इनकी पूजा विधि, विश्वासों अन्धविश्वासों के साथ-साथ, मणियों, पर्वतीय फल-फूलों, पशु-पक्षी, उपजों के नाम इन जातियों से ग्रहण किए गए। आग्नेय या निषाद जातियाँ पंजाब के पूर्व में बसी थीं। इनकी संस्कृति ग्रामीण थी और कृषि इनका प्रधान कर्म था। आर्यों ने इन्हीं से कृषि कर्म सीखा और उस कर्म में प्रगति की। क्योंकि अधिकांश आर्य जातियाँ मध्य एशिया के पहाड़ी प्रदेश में रहती आ रही थीं। नावें चलाना और मछली पकड़ना भी इन निषाद जातियों का प्रमुख व्यवसाय था। हाथी पालने और साधने में ये निपुण थे। भारतीय इतिहास आर्य 'अरब' अपेक्षा आग्नेय 'हाथी' का जो इतना अधिक महत्व रहा उसका भी यही कारण है। वर्तमान समय में भी राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, बंगाल, ओड़िशा, असम और उत्तरप्रदेश के पहाड़ी इलाकों में मुंडा, सांथाल, कोल, हो, शबर, खासी, मानख्मेर कुंकू, भूमिज आदि अनेक आदिम जातियाँ फैली हुई हैं जिसकी भाषा, बोली और शब्दावली का तलदेश की बोली में सीधा संपर्क रहा।

द्रविड़ कुल की जातियाँ सांस्कृतिक दृष्टि से सबसे अधिक उन्नत रहीं। फलस्वरूप भारत में आर्यों का प्रसार सरलतया संपन्न नहीं हुआ। उनको अनेक प्राकृतिक एवं मनुष्य कृत बाधाओं एवं विरोधों का सामना करना पड़ा। मोहनजोदड़ों, हड़प्पा आदि की खुदाइयों और बलोचिस्तान में प्राप्त ब्राहुई नाम की द्रविड़ भाषा के अवशेषों को देखकर इतिहासकारों का यह निश्चित मत है कि सिन्धु सौविर आदि प्रदेशों में द्रविड़ जातियों का प्राबल्य था, जिनसे आर्यों को कठिन संघर्ष करना पड़ा। प्रसार के इस कार्य में अनेक शताब्दियाँ लग गईं, इस काल क्रम में भाषा भी स्थिर नहीं रह सकी, उसके रूप में परिवर्तन विवर्तन होता गया। जैसे भारतीय आर्य भाषा में टवर्गीय ध्वनियाँ अनुकरणात्मक शब्दावली, प्रत्ययों, कर्मवाच्य में अतिरिक्त क्रिया, वाक्य योजना के कुछ तत्त्व द्रविड़ से आए हैं। इस प्रकार इन द्रविड़ संस्कृति, जाति-जनजातियों की संस्कृतियों के अलावा समय-समय पर शक, हूण, मंगोल, तुर्क, चीनी, अरब, शान आदि अनेक जातियाँ यहाँ आईं और यहाँ की सभ्यता और संस्कृति में घुलमिल गईं। इन सबने भारतीय भाषाओं (हिंदी) के निर्माण और विकास में अपना योगदान दिया।

विकास क्रम की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषा को तीन कालों में विभाजित किया गया है–

1. प्राचीन-भारतीय-आर्य-भाषा (वैदिक-संस्कृत-लौकिक-संस्कृत) 1500 ई. पूर्व. से 500 ई.पू. (1000 वर्ष)
2. मध्यकालीन आर्य भाषा (पालि-प्राकृत) 500 ई. पू. से 1000 ई. (1500 वर्ष) यद्यपि इससे पहले भी प्राकृतें थीं।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषा–1000 से अब तक।

(हिंदी और हिंदीतर बांग्ला, गुजराती, मराठी, सिंधी, पंजाबी आदि)

◆◆◆

2. **प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का स्वरूप प्रकट करते हुए वैदिक और लौकिक भाषा की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।**

(Most Imp.)

अथवा

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की विशेषताएं बताइए।

उत्तर–प्राचीन भारतीय आर्य भाषा–आर्यों के आगमन के समय इनकी भाषा ईरानी से अधिक भिन्न नहीं थी। भारत में आने वाले आर्यों के दल अपने साथ अपनी सुविकसित भाषा और यज्ञ-परायण संस्कृति भी लेकर आए। अगर हम प्राचीन ईरानी संस्कृति की ओर ध्यान दें तो मालूम पड़ता है कि भारत में प्रवेश करने से पूर्व ही आर्यों में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि देवताओं की उपासना प्रचलित थी। भारत में बस जाने पर यज्ञों के विधि-विधान में विकास होता गया। आर्य कृषि देवताओं की प्रशंसा में सूक्तों की रचना करते रहे। यह सूक्त परम्परागत रूप से कृषि परिवारों में सुरक्षित रखे जाने लगे। बाद में विभिन्न कृषि परिवारों में सूक्तों का संग्रह किया गया। यह संग्रह ऋग्वेद संहिता के रूप में हुआ है। यज्ञों के विकास के साथ-साथ वैदिक वाङ्मय में विशेष वृद्धि होती गई। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत तीन विभाग हैं–1. संहिता, 2. ब्राह्मण, 3. उपनिषद्। संहिता भाग में ऋकसंहिता के अतिरिक्त यजुः संहिता, साम संहिता, एवं अथर्व संहिता हैं। यजु-संहिता में यज्ञों के कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मंत्र संगृहीत हैं। इसके मंत्र यज्ञों में प्रयोग के क्रम में रखे गए हैं और पद्य के साथ-साथ गद्य में भी अनेक मंत्र इसमें उपलब्ध होते हैं। **'यजुः–संहिता'** कृष्ण एवं शुक्ल इन दो रूपों में सुरक्षित है। कृष्ण यजुर्वेद संहिता में मंत्र भाग एवं गद्यमय व्याख्यात्मक भाग साथ-साथ संकलित किए गए हैं, परंतु शुक्ल यजुर्वेद संहिता में केवल मंत्र भाग संगृहित है। **'सामवेद संहिता'** में सोम यागों में गाये जाने वाले सूक्तों को गेय पदों के रूप में सजाया गया है। इसके अधिकांश सूक्त ऋग्वेद संहिता से लिए गए हैं। 'अथर्ववेद' में जनसाधारण में प्रचलित मंत्र-तंत्र, टोटे-टोटकों का संकलन है। इसकी सामग्री **'ऋक्संहिता'** की जैसी प्राचीन है परंतु चिरकाल तक **'वेद्'** के रूप में मान्यता प्राप्त न होने के कारण इसकी भाषा का प्राचीनतम रूप सुरक्षित नहीं रह सका।

ब्राह्मण भाग में कर्मकांड की व्यवस्था की गई है और इसी प्रसंग में अनेक कथाओं की भी योजना की गई है। प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण ग्रंथ हैं। ऋग्वेद के प्रधान ब्राह्मण ग्रंथ **'ऐत्तरेय ब्राह्मण'** है। इसका रचनाकाल अनुमानतः 1000 ई. पूर्व है। ब्राह्मण ग्रंथों में यह सबसे प्राचीन है। 'सामवेद' के ब्राह्मण ग्रंथों में **'पंचविश ब्राह्मण'** विशेष उल्लेखनीय है। **'शतपथ ब्राह्मण', 'शुक्ल यजुर्वेद'** का ब्राह्मण भाग है। तैत्तीरीय ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों की रचना गद्य में हुई है। 'उपनिषद्' ब्राह्मण ग्रंथों के परिशिष्ट भाग हैं। इनमें वैदिक मनीषियों के आध्यात्मिक एवं परमार्थिक चिंतन के दर्शन होते हैं। इनमें आर्यों के ज्ञानकाण्ड का उदय एवं विकास हुआ। इन ग्रंथों की भाषा अत्यन्त सरल, प्रवाहमयी एवं हृदयग्राहिणी है।

भारत में प्रवेश करने वाले आर्यों के विभिन्न दलों की भाषा में कुछ-कुछ भिन्नता अवश्य थी। परन्तु उनमें साहित्यिक भाषा का एक सर्वमान्य स्वरूप विकसित हो गया था। इसी साहित्यिक भाषा में **'ऋग्संहिता'** के सूक्तों की रचना हुई। सूक्त ग्रंथों के रचनाकाल का समय लगभग 700 ई. पू. है। इसमें भाषा के विकसित रूप (साहित्यिक रूप) के दर्शन होते हैं। इसी भाषा का उत्तरी रूप अपेक्षाकृत परिनिष्ठित एवं पंडितों में मान्य रूप था। इस रूप को पाणिनी ने पाँचवीं शताब्दी में नियमबद्ध किया जो हमेशा के लिए लौकिक संस्कृति का सर्वमान्य आदर्श रूप बन गया। दीर्घकाल तक ये सूक्त श्रुति परंपरा से कृषि परिवारों में सुरक्षित रखे जाते रहे। परन्तु जैसे-जैसे सूक्तों की भाषा से बोलचाल की भाषा की भिन्नता बढ़ती गई वह और दुर्बोध होने लगी, वैसे-वैसे इसके प्राचीन रूप को सुरक्षित रखने के लिए संहिता के प्रत्येक पद को संधि रहित अवस्था में अलग-अलग कर पदपाठ बनाया गया तथा **'पद-पाठ'** से 'संहिता-पाठ' बनाने के नियम निर्धारित किए गए और प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखाओं के **'प्रातिशाख्यों'** की रचना हुई। 'प्रातिशाख्यों' में अपनी-अपनी शाखा के अनुरूप वर्ण-विचार, उच्चारण-विधि, पद-पाठ से संहिता बनाने की विधि आदि विषयों को पूर्णरूप से विचार किया गया। पाणिनी द्वारा संस्कृत भाषा को व्याकरण के नियमों में बाँध दिए जाने पर बोलचाल की भाषा, प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में विकास करती चली गई। आगे चल कर संस्कृत भाषा बोलचाल की भाषा न रहने पर भी कुछ परिवर्तित होती रही, जिसकी झलक रामायण, महाभारत, पुराण-साहित्य और कालिदास के काव्यों में मिलती है। इस प्रकार प्राचीन आर्य भाषा के दो रूप हैं–वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत।

(क) वैदिक संस्कृत

वैदिक संस्कृत का समय 1500 ई. पूर्व से लेकर 500 ई. पूर्व तक है। अर्थात् आज से 3500 वर्ष पूर्व से 2500 वर्ष पूर्व तक लगभग 1000 वर्ष का समय है। वैदिक संस्कृत के चार प्रमुख ग्रंथ चार वेद क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद है।

इसमें ऋग्वेद भारतीय आर्य भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ है। इस ग्रंथ में लंबे काल में रची गई ऋचाओं को एकत्रित करके संकलित किया गया है। ऋग्वेद में कुल दस मंडल हैं परंतु प्रथम और दशम मंडल में संकलित ऋचाओं की भाषा परवर्ती काल की प्रतीत होती है। इसने विपरीत बीच के आठ मंडलों की भाषा प्राचीन ईरानी भाषा अवेस्ता से मिलती-जुलती है। वैदिक साहित्य में चार वेदों के साथ-साथ ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक तथा उपनिषद् भी सम्मिलित है। जहाँ वेदों की भाषा छंदोबद्ध है वहाँ ब्राह्मणों की भाषा गद्य है। इस संदर्भ में डॉ. **भोलानाथ तिवारी** ने उचित ही लिखा है—**"यों वैदिक संहिताओं की भाषा में भी एकरूपता नहीं है। कुछ भी भाषा बहुत पूर्ववर्ती है तो कुछ की परवर्ती। उदाहरणार्थ अकेले ऋग्वेद में ही प्रथम और दसवें मंडलों की भाषा तो बाद की है और शेष की पुरानी। यही पुरानी भाषा अपेक्षाकृत अवेस्ता के निकट है। अन्य संहिताएं (यजुः, साम्, अथर्व) और बाद की हैं।"**

वैदिक साहित्य के ग्रंथों का विकास इस प्रकार है—

वेदों की संस्कृत—ब्राह्मण ग्रंथों की संस्कृत —आरण्यक ग्रंथों की संस्कृत—उपनिषदों की संस्कृत।

यह सब होने पर भी इन चारों प्रकार की वैदिक संस्कृत में ध्वन्यात्मक और व्याकरणिक समानताएँ देखी जा सकती हैं। यही कारण है कि इन सभी ग्रंथों को वैदिक संस्कृत में ही सम्मिलित किया जाता है। वैदिक संस्कृत में कुल मूलतः 52 ध्वनियाँ हैं जिनका विवेचन इस प्रकार है—

ध्वनियाँ

(i) मूल स्वर (ह्रस्व)	अ, इ, उ, ऋ, लृ
(दीर्घ)	आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ
(ii) संयुक्त स्वर –	ए, ओ, ऐ, औ, अं
(iii) स्पर्श व्यंजन—कण्ठ्य	क् ख् ग् घ् ङ्
तालव्य	च् छ् ज् झ् ञ्
मूर्धन्य	ट् ठ् ड् ढ् ण्
दंत्य	त् थ् द् ध् न्
ओष्ठ्य	प् फ् ब् भ् म्
(iv) अन्तःस्थ	य् र् ल् व्
(v) ऊष्म श् ष् स्	
(vi) महाप्राण	ह्
(vii) शुद्ध नासिक्य	अनुस्वार
(viii) अघोष संघर्षी	विसर्ग या
	जिह्वामूलीय
	उपध्मानीय

वैदिक संस्कृत की विशेषताएँ—प्रत्येक भाषा का अपना अलग स्वरूप होता है तथा उसकी कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ भी होती हैं जिनके कारण उनका अस्तित्व पृथक होता है। प्रत्येक भाषा की विशेषताएँ ही उसे अन्य भाषाओं से अलग करती हैं। वैदिक भाषा की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. वैदिक संस्कृत में स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तीनों रूपों का उच्चारण होता है जैसे— आसीत्, विदन्तीन।
2. वैदिक संस्कृत में संगीतात्मक सुराघात का विशेष महत्त्व माना गया है। इसमें तीन प्रकार के स्वर हैं—
   (i) उदात्त; *(ii)* अनुदात्त और *(iii)* त्वरित। वैदिक मंत्रों के उच्चारण के समय इनका विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। स्वर परिवर्तन के कारण अकसर शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे— 'इन्द्रशत्रुः'।
3. वैदिक संस्कृत में लृ स्वर का काफी प्रयोग हुआ है।

4. वैदिक संस्कृत की व्यंजन ध्वनियों में ळ और ळ्ह दो ऐसी ध्वनियाँ हैं जो अन्य भाषाओं में नहीं हैं।
5. वैदिक भाषा में संधि नियमों में शिथिलता देखी जा सकती है। अनेक बार तो उन स्थलों पर भी संधि नहीं होती जहाँ पर होनी चाहिए।
6. प्राचीन वैदिक संस्कृत में 'ल् के स्थान पर र्' का प्रयोग देखा जा सकता है जैसे– सलित के स्थान पर सरित।
7. वैदिक संस्कृत में शब्द-रूपों की भी अनेकरूपता देखने को मिलती है। उदाहरण के रूप में प्रथमा विभक्ति द्विवचन में देवा और देवहु दोनों का प्रयोग होता है।
8. शब्द-रूपों की विविधता धातुओं में भी देखी जा सकती है। उदाहरण के रूप में कृ धातु के लट् लकार प्रथम पुरुष में कृणोति, करोति, कुरन्ते, करन्ति आदि अनेक रूप मिलते हैं।
9. धातुओं के एक ही अर्थ में अनेक प्रत्यय लग जाते हैं। जैसे एक ही तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में सोलह प्रत्यय मिलते हैं।
10. वैदिक संस्कृत में उपसर्गों का प्रयोग स्वतंत्र रूप से भी होता था जैसे– "अभि त्वा पूर्वयी तमे सृजामि।" यहाँ 'अभि' उपसर्ग का प्रयोग सर्वथा स्वतंत्र रूप में हुआ है।
11. पुनः पद रचना की दृष्टि से वैदिक भाषा श्लिष्ट योगात्मक है। सम्बन्ध तत्त्व जुड़ते ही अर्थ तत्त्व में परिवर्तन हो जाता है।

इस प्रकार वैदिक संस्कृत में अनेक प्रकार के प्रयोग देखे जा सकते हैं। वैदिक संस्कृत के वर्तमान रूप में अनेक बोलियों का मिश्रण दिखाई देता है। इसमें देश-भिन्नता के साथ-साथ काल-भिन्नता भी विद्यमान है।

प्रसिद्ध विद्वान डॉ. करण सिंह का विचार है कि वैदिक संस्कृत तत्कालीन प्रचलित असंख्य बोलियों का परिनिष्ठित रूप है। विशेषकर ऋग्वेद की भाषा तत्कालीन साहित्यिक वैदिक संस्कृत भाषा है।

(ख) लौकिक संस्कृत भाषा

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का दूसरा रूप संस्कृत है। इसे लौकिक संस्कृत अथवा क्लासिकल संस्कृत भी कहते हैं। यूरोप में जो स्थान लैटिन भाषा का है, वही भारत में संस्कृत भाषा का स्थान है। यह भाषा 'रामायण तथा महाभारत' से भी पूर्वकाल से लेकर आज तक प्रचलित है। सर्वप्रथम वाल्मीकि-रामायण में ही भाषा के अर्थ में संस्कृत शब्द का प्रयोग हुआ। यह संस्कार की गई, शिष्ट अथवा अप्रकृत भाषा है। लौकिक संस्कृत का मूल आधार वैदिक काल की उत्तरी बोली में है। कारण यह है कि उत्तरी बोली ही सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती थी। प्रसिद्ध संस्कृत के वैयाकरण पाणिनि ने तत्कालीन भाषाओं के कुछ रूपों का उल्लेख भी किया है। परंतु लौकिक संस्कृत पर मध्यदेशी तथा पूर्वी भाषाओं का प्रभाव भी देखा जा सकता है। सच्चाई तो यह है कि लौकिक संस्कृत एक साहित्यिक भाषा है। एक विद्वान का कहना है कि वैदिक संस्कृत उस समय की परिनिष्ठित भाषा थी। उसके समान्तर बोलचाल की भाषा ही विकसित हुई जो आगे चलकर लौकिक संस्कृत के नाम से प्रसिद्ध हो गई, लेकिन यह भी निश्चित है कि इस पर वैदिक संस्कृत का प्रभाव भी अवश्य है। गुप्त काल में संस्कृत भाषा का अत्यधिक विकास हुआ और इसमें संसार के समृद्ध साहित्य का निर्माण हुआ। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भास, बाणभट्ट आदि इस भाषा की महान् विभूतियां हैं। इसका प्रथम प्रामाणिक ग्रंथ **'रामायण'** है जिसके कवि वाल्मीकि हैं। इसका रचनाकाल लगभग पाँच सौ ई. पूर्व माना जाता है। पाणिनि ने वैदिक संस्कृत की त्रुटियों को दूर करके लौकिक संस्कृत भाषा को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। उनके द्वारा रचित व्याकरण का नाम है– **'अष्टाध्यायी'**। उन्होंने विभिन्न शब्द रूपों, धातु रूपों तथा प्रत्ययों की विविधता को घटा दिया तथा साथ ही काल, पुरुष, लिंग, वचन आदि के स्वतंत्र प्रयोगों को समाप्त कर दिया। कुछ विद्वानों का तो यह कहना है कि पाणिनि के काल में तो संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। इसका प्रमाण यह है कि संस्कृत को भाषा कहा है। परंतु हार्नले, वेबर और ग्रियर्सन का कहना है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं थी। परंतु **डॉ. भोलानाथ तिवारी** उनके इस कथन से सहमत नहीं हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से संस्कृत भाषा के अध्ययन के फलस्वरूप ही यूरोप में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का आरंभ हुआ। संस्कृत भाषा के ज्ञान के बिना तथा विज्ञान का अध्ययन कोई महत्त्व नहीं रखता। संस्कृत भाषा अधिकांश भाषाओं की जननी मानी जाती है। परंतु इस भाषा ने तिब्बती, अफगानिस्तानी, जापानी, चीनी, कोरियाई, सिंहली, बर्मी आदि भाषाओं को भी अत्यधिक प्रभावित किया है। रामायण, महाभारत के अतिरिक्त रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, अभिज्ञानशाकुन्तलम् (कालिदास), उत्तररामचरितम् (भवभूति), बाणभट्ट की कादम्बरी, दण्डी का दशकुमारचरितम् तथा माघ का शिशुपालवध आदि इस भाषा के महान् ग्रंथ हैं।

3. वैदिक और लौकिक संस्कृत के अंतर्भेद को सम्यक् रेखांकित कीजिए।

अथवा

वैदिक और लौकिक संस्कृत का अंतर स्पष्ट कीजिए।

अथवा

लौकिक संस्कृत भाषा का संक्षिप्त परिचय देते हुए वैदिक भाषा से उसके अंतर को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में अंतर–संस्कृत शब्द 'सम्' उपसर्ग में 'कृ' धातु जुड़ने से बना है। इसका अर्थ है– संस्कार की गई भाषा। संस्कृत भाषा का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकि-रचित रामायण में 'भाषा' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वैदिक काल में वैदिक काल की भाषा की प्रमुख तीन बोलियाँ थीं– **उदीची, मध्यवर्ती तथा पूर्ववर्ती**। इन तीनों में उदीची उस काल की प्रमुख भाषा थी। पाणिनि ने इसी भाषा को नियमबद्ध करके इसे 'संस्कृत' नाम दिया। इस संदर्भ में **डॉ. बलदेव उपाध्याय** ने लिखा भी है– **"जब भाषा का सर्वसाधारण में प्रचार कम होने लगा और पालि तथा प्राकृत भाषाएँ बोलचाल की भाषाएँ बन गईं तब जान पड़ता है कि विद्वानों ने बोलचाल की भाषा में भेद दिखाने के लिए इसका नाम संस्कृत भाषा दे दिया।"** दण्डी ने इस संबंध में निम्न वक्तव्य दिया है–**"संस्कृत नाम दैवी वागन्वख्याता महर्षिभि अर्थात् महर्षियों ने देववाणी को संस्कृत नाम दिया है।"** **विण्टरनिटज** ने संस्कृत के लौकिक नाम को इस प्रकार स्पष्ट किया है–**("What we call classical Sanskrit means Panini Sanskrit that is the Sanskrit which according to the rules of Panini is alone correct.")** अर्थात् प्राचीन संस्कृत भाषा का अर्थ **पाणिनि संभव** अर्थात् पाणिनि द्वारा निर्धारित नियमों का अनुसरण करने वाली भाषा है।

भले ही लौकिक संस्कृत का विकास वैदिक संस्कृत भाषा से हुआ हो, परंतु यह भाषा वैदिक संस्कृत से अलग भाषा मानी जाती है। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत में समानताएँ बहुत कम हैं, परंतु विषमताएँ अधिक हैं।

वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत में रचनात्मक समानताएँ

1. ये दोनों भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. दोनों ही भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों में धातुओं का अर्थ प्रायः सुरक्षित है।
3. दोनों भाषाओं में तीन लिंग हैं। (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग)
4. दोनों भाषा में तीन वचन हैं। (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन)
5. दोनों भाषाओं के वाक्यों में शब्दों का स्थान निश्चित नहीं होता।
6. दोनों भाषाओं में छः कारक हैं (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण) सम्बन्ध तथा सम्बोधन को कारक नहीं माना जाता।
7. दोनों भाषाओं में सात विभक्तियाँ हैं। (प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी) (सम्बन्ध को छोड़कर)।

विषमताएँ–

क्र.सं.	वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
1.	वैदिक संस्कृत में संगीतात्मक स्वराघात का अधिक प्रयोग होता था।	लौकिक संस्कृत में बलात्मक स्वराघात का अधिक प्रयोग होता है।
2.	वैदिक संस्कृत के स्वरों में उदात्तादि गुण थे।	लौकिक संस्कृत में उदात्तादि गुण नहीं थे।
3.	वैदिक संस्कृत के स्वरों का ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत क्रमशः एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक के रूप में उच्चारण होता था।	लौकिक संस्कृत के स्वरों में केवल ह्रस्व, दीर्घ का उच्चारण होता है। प्लुत उच्चारण समाप्त हो गया है।
4.	वैदिक भाषा में 'लृ' स्वर का प्रयोग अत्यधिक नहीं होता।	लौकिक संस्कृत में 'लृ' स्वर का प्रयोग होता था।
5.	वैदिक भाषा में ळ, ळह, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय व्यंजन ध्वनियों का प्रयोग होता था।	परंतु लौकिक संस्कृत में इन चारों व्यंजन ध्वनियों का लोप हो गया है।

क्र.सं.	वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
6.	वैदिक संस्कृत भाषा में स्वरभक्ति का अधिक प्रयोग होता था।	लौकिक संस्कृत में स्वरभक्ति का प्रयोग नहीं होता।
7.	वैदिक संस्कृत भाषा में संधि नियमों का पालन अनिवार्य नहीं था। उसमें अनेक ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जिसमें संधि नियमों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।	लौकिक संस्कृत में संधि नियमों का पालन करना अनिवार्य है।
8.	वैदिक संस्कृत के शब्द-रूपों में विविधता देखी जा सकती है। अकसर एक ही शब्द के एक ही विभक्ति तथा एक ही वचन में अनेक रूप उपलब्ध होते हैं।	लौकिक संस्कृत के शब्द-रूपों में एकरूपता है। इसमें वैदिक संस्कृत की विविधता समाप्त हो गई है।
9.	धातुओं की दृष्टि से वैदिक संस्कृत एक समृद्ध भाषा है। यहाँ एक ही धातु का अनेक रूपों, अर्थों में प्रयोग देखा जा सकता है।	लौकिक संस्कृत में धातु रूपों की विविधता घट गई है। इसमें कालों और विभक्तियों का स्वरूप नियमित है जो कि वैदिक संस्कृत में नहीं था।
10.	वैदिक भाषा में आत्मनेपद और परस्मैपद का कोई विशेष नियम न के बराबर है।	लौकिक संस्कृत में आत्मनेपद और परस्मैपद का प्रयोग नियम के अनुसार होता है।
11.	वैदिक संस्कृत में लङ् लकार, लुङ्लकार और लिट् लकार का प्रयोग किसी भी काल में किया जा सकता है।	परंतु लौकिक संस्कृत भाषा में लङ, लुङ् और लिट् लकार का प्रयोग केवल भूतकाल में ही किया जाता है।
12.	वैदिक संस्कृत में कुल बारह लकार थे। उसमें लेट् लकार का भी प्रयोग होता था।	परंतु लौकिक संस्कृत में लेट् लकार का प्रयोग समाप्त हो गया। इस प्रकार अब दस लकारों का ही प्रयोग होता है।
13.	वैदिक संस्कृत में एक ही अर्थ के लिए अनेक प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के रूप में 'तुमुन्' अर्थ में पंद्रह और प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार 'क्त्वा' अर्थ में तीन और प्रत्यय मिलते हैं।	लौकिक संस्कृत में प्रत्ययों के अनेक रूप समाप्त हो गए हैं। जैसे– तुमुन, क्त्वा आदि का एक ही रूप रह गया है।
14.	वैदिक संस्कृत में धातु से पृथक् उपसर्गों का प्रयोग स्वतंत्र रूप से होता रहा है।	लौकिक संस्कृत में उपसर्गों का स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता। इस भाषा में उपसर्ग धातु के साथ ही प्रयुक्त होते हैं।
15.	वैदिक संस्कृत भाषा में श्रेष्ठतावाचक प्रत्ययों का प्रयोग संज्ञाओं के साथ उपलब्ध होता है। जैसे– कविवरः, कण्वतमः आदि।	लौकिक संस्कृत में श्रेष्ठतावाचक प्रत्ययों का प्रयोग केवल विशेषणों के साथ किया जाता है, संज्ञाओं के साथ नहीं। जैसे–सुंदरतराः, सुन्दरतमाः।
16.	वैदिक संस्कृत में 'अक्तु', 'अमूर', 'ईम', 'उक्थ', 'ऊति', 'ऋदूदर', 'हशीक', 'विचर्षणी', 'सीम' आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।	ये शब्द प्रयोग से बाहर हो गए हैं।
17.	वैदिक संस्कृत भाषा में निम्नलिखित शब्दों के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है– *(i)* अरि = ईश्वर, धार्मिक शत्रु *(ii)* अराति = शत्रुता, कृपणता *(iii)* क्षिति = निवास स्थान, गृह, बस्ती, मनुष्य। *(iv)* न = जैसे, नहीं *(v)* मृकीक = कृपा, अनुग्रह *(vi)* वध = भयानक शस्त्र	संस्कृत में इनके अर्थों में इस प्रकार परिवर्तन हो गया है– *(i)* अरि = शत्रु *(ii)* अराति = शत्रु *(iii)* क्षिति = पृथ्वी *(iv)* न = नहीं *(v)* मृकीक = शिव का एक नाम *(vi)* वध = हत्या

क्र.सं.	वैदिक संस्कृत	लौकिक संस्कृत
18.	वैदिक संस्कृत में बड़े-बड़े समासों अथवा छोटे समासों का प्रयोग नियमानुसार नहीं होता था। दूसरा वैदिक संस्कृत में तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि, द्वन्द्व केवल चार समासों का ही प्रयोग होता था।	लौकिक संस्कृत में बड़े अथवा छोटे समासों का नियमानुसार प्रयोग होता है। लौकिक संस्कृत में तत्पुरुष, कर्मधारय, बहुव्रीहि, द्वन्द्व के अतिरिक्त द्विगु, अव्ययीभाव समासों का प्रयोग भी होता है।
19.	वैदिक संस्कृत में आस्ट्रिक, यूनानी, रोमन, अरबी, ईरानी और चीनी भाषाओं के शब्दों का कम प्रयोग होता था।	लौकिक संस्कृत में इन भाषाओं के शब्दों का अत्यधिक प्रयोग होने लगा।
20.	वैदिक भाषा में सर्वनाम के मध्य पुरुष तथा उत्तमपुरुष के युष्मद्, त्वा, अस्मद्, त्वा आदि अनेक रूपों का प्रयोग उपलब्ध होता है।	लौकिक संस्कृत में ये रूप उपलब्ध नहीं होते।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लौकिक संस्कृत भाषा वैदिक संस्कृत से ही विकसित हुई। जहाँ वैदिक संस्कृत की रूप-रचना काफी सरल थी, वहीं लौकिक संस्कृत में यह जटिल बन गई। इसी जटिलता की प्रवृत्ति के कारण ही पालि आदि प्राकृत भाषाओं का उद्भव हुआ और आगे चलकर वैदिक संस्कृत का प्रयोग घटता चला गया।

◆◆◆

4. वैदिक संस्कृत भाषा के भाषा-शास्त्रीय रूप पर प्रकाश डालिए।

अथवा

वैदिक संस्कृत भाषा का विस्तारपूर्वक परिचय दीजिए।

उत्तर—**वैदिक संस्कृत भाषा**—इसकी काल सीमा 1500 ई. पू. से 500 ई.पू. है। इसके अन्य नाम है—प्राचीन संस्कृत, वैदिकी, वैदिक संस्कृत तथा छान्दस। इस भाषा का प्रयोग वैदिक साहित्य, संहिताओं, ब्राह्मण ग्रंथों, आख्यानों तथा प्राचीन उपनिषदों में हुआ है। इन सभी ग्रंथों में भाषा का उत्तरोत्तर विकसित रूप देखने को मिलता है। फिर भी ध्वन्यात्मक और व्याकरणिक समानताएँ इन ग्रंथों की भाषा को एक ही भाषा का रूप देती है। वास्तव में हिन्दी के विद्यार्थी को जिस वर्णमाला से परिचित कराया जाता है, वह वास्तव में प्राचीन भाषा की है। विद्वानों ने वैदिक भाषा को बोलचाल की भाषा के अत्यन्त निकट होने का अनुमान लगाया है। इसका भाषाशास्त्रीय रूप इस प्रकार है—

1. ध्वनियाँ—मूल यूरोपीय भाषा की तुलना में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में स्वरों की संख्या कम हो गई। समान स्वरों में । अ। आ। इ। ई। उ। ऊ। ऋ। लृ। और सन्ध्यक्षरों में । ए। ए। ओ। औ। पाए जाते हैं। विसर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, श और । ष। आदि कुछ नई ध्वनियाँ आ गई।

योरोपीय भाषा की ध्वनियाँ वैदिक भाषा में निम्नलिखित रूप में विकसित हुई हैं—

	योरोपीय भाषा	वैदिक भाषा
स्वर—	। अ । ह्रस्व ए, ओ, न्, म्	आ
	। आ । दीर्घ ए, ओ, न्, म्	आ
	इ, ऋ	इ
	ई	ई
	उ, ऋ	उ
	ऊ, लृ	ऊ, लृ
	अइ, एइ	ए
	अउ, एउ, ओउ	ओ
	आइ, एइ, ओइ	ऐ
	आउ, एउ, ओउ	औ

यह भाषा श्लिष्ट योगात्मक प्रकृति की थी। भाव विस्तार की सूत्र शैली के तथा श्रुति पाठ के शुद्ध उच्चारण पद-पाठ, क्रम-पाठ आदि रूपों में सुरक्षित रखा गया है। मूल भारोपीय भाषा इस काल में विकास के पथ पर अग्रसरित थी। लौकिक संस्कृत तक आते-आते वह विकास बहुत आगे बढ़ गया। इस काल की भाषा मूल भारोपीय भाषा से कुछ बातों में अन्तर रखती है।

(*i*) इस काल में पहले की अपेक्षा स्वरों की संख्या कम हो गई थी। ह्रस्व । अ । ए । और । ओ। ध्वनियों के स्थान पद । अ । का प्रयोग होने लग गया था। इसी प्रकार दीर्घ । अ । ए । और । ओ। का स्थान । आ । ने ग्रहण कर लिया था। इसी प्रकार मूल ह्रस्व एवं दीर्घ अर्द्धव्यंजन । न । म। के स्थान पर भी । अ । और । आ। प्रयुक्त हुए हैं।

(*ii*) इस काल में तेरह स्वर ध्वनियाँ— । अ। आ। इ। ई। उ। ऊ । ऋ । लृ। ए । ओ। ऐ। औ। ही रह गई। प्रातिशाख्यों में इनमें प्रथम नौ को समानाक्षर और अन्तिम चार को सन्ध्यक्षर नाम दिया गया है। सन्ध्यक्षरों में ए। ओ। गुण। तथा । ऐ। औ। वृद्धि स्वर हैं।

(*iii*) । ऐ। और । औ । के मूल रूप । आई। और। आउ । है। सन्धि में ये ही । आय। और। आव । में परिणत हो जाते हैं।

(*iv*) मंत्रकाल में । अ। का उच्चारण विवृत (*Open*) होता था। परन्तु प्रातिशाख्यों में चल कर यह ह्रस्व संवृत स्वर के रूप में बोला जाने लगा था। इसका मुख्य कारण स्वरों की शुद्ध उच्चारण स्थिति ही था। इस काल में उदासीन स्वर भी प्रायः लुप्त हो गए थे। उसके स्थान पर 'इ' की आवृत्ति हो गई थी।

(*v*) । ऋ । और । लृ। का उच्चारण आजकल के उच्चारण से भिन्न था।

(*vi*) छन्द की लय को ठीक करने के लिए । र। से संयुक्त, व्यंजन के बीच अति ह्रस्व स्वर का आगम आवश्यक था। इस स्वर आगम को स्वरभक्ति नाम से जानते हैं।

2. स्वराघात—मूल भारोपीय भाषा के संगीतात्मक स्वराघात से मात्रिक तथा गुणिक अपश्रुतियों का विकास हुआ। इस प्रकार इस भाषा परिवार के विघटन के समय दोप्रकार का स्वराघात था—उदात्त तथा स्वरित। साथ ही भारत में बसने वाले ईरानी परिवारों में अनुदात्त तथा स्वरित तीन प्रकार के संगीतात्मक स्वराघात प्राप्त हुए। जो क्रमशः उच्चारण में उच्च, निम्न तथा मध्यम वर्ग के द्योतक थे। स्वराघात की स्थिति क्रमशः ह्रास की ओर थी। वैदिक साहित्य में स्वराघात उच्चारण का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। बिना स्वराघात के वैदिक ऋचाओं का उच्चारण नहीं किया जाता था और स्वर की अशुद्धि से अर्थ का अनर्थ हो जाता था। स्वरयुक्त ध्वनि उदात्त के स्वरहीन अनुदात्त तथा उदात्त से अनुदात्त में ढलने वाली स्वरध्वनि स्वरित कहलाती है। स्वरपरिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। स्वर परिवर्तन से पद की प्रकृति या प्रत्यय अथवा विभक्ति में स्वर-परिवर्तन दिखाई देता है। इसको भाषा वैज्ञानिक अपश्रुति कहते हैं। संस्कृत के व्याकरणिक इस प्रवृत्ति को **'गुण'**, **'वृद्धि'** एवं **'सम्प्रसारण'** नाम से जानते हैं। प्राचीन काल में स्त्रियों और शूद्रों को वेदों के अध्ययन का अधिकार इसलिए नहीं दिया गया था कि क्योंकि इनके द्वारा स्वराघात के नियमों का पालन संभव नहीं होगा, ऐसा समझा गया था। स्वरों की अशुद्धि से अर्थ का अनर्थ हो जाता है, इस संबंध में यास्क ने निरुक्त में कहा है—स्वर अथवा वर्ण की अशुद्धि मंत्र को हीन तथा निरर्थक बना देती है। अशुद्ध स्वर वाणी वज्र बनकर यजमान का ठीक उसी प्रकार नाश कर देती है, जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रुः' पद में स्वराघात (तत्पुरुष के स्थान बहुब्रीहिसमास) की अशुद्धि के कारण वृत्रासुर का नाश हो गया। इसके अतिरिक्त स्वराघात को अर्थ-द्योतन में भी सहायक माना गया है।

3. व्यंजन ध्वनियाँ—इस काल में मूल भारोपीय भाषा की व्यंजन ध्वनियाँ अधिकांश में सुरक्षित रही हैं। 'ट' वर्ग का प्रवेश भारतीय आर्य भाषाओं की अपनी विशेषता है। व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण स्थान के अनुसार पाँच वर्ग 'क वर्ग (कंठ्य),' 'च वर्ग' (तालव्य), 'त वर्ग' (दन्त्य), प वर्ग' (ओष्ठ्य) 'ट वर्ग मूर्धन्य' हैं। इनके अतिरिक्त चार अर्द्ध स्वर 'य् । र् । ल् । व् । तथा तीन ऊष्म ध्वनियाँ। श्। ष्। स्। एक महाप्राण । ह्। तथा अनुनासिक। ँ। है। इसके अतिरिक्त तीन ध्वनियाँ विसर्जनीय हैं—
(*h*) : जिह्वामूलीय *h* (˘) (*h*) एवं उपाध्मानीय (*h*) जो अपने विशिष्ट चिह्नों से जानी जाती है।

4. नासिक्य ध्वनियाँ—ये ध्वनियाँ पाँच हैं । ञ् । ङ् । ण् । न्। म्। इनमें । न्। और । म। ही पद में किसी भी स्थान पर प्रयुक्त होते दिखाई देते हैं। शेष तीन पद आरंभ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। ।ञ्। तथा ।ण्। तो पदान्त में भी नहीं आते। एक शुद्ध नासिक्य ध्वनि है जिसे 'अनुस्वार' कहा जाता है। स्वर ध्वनि से पूर्व वह नासिक्य ध्वनि । ँ। अनुनासिक कही जाती है तथा व्यंजन से पूर्व इसे 'अनुस्वार' कहते हैं और इस रूप । ं। में लिखते हैं। यह अनुस्वार पद के अन्त में साधारणतया। म्। और कभी-कभी । न् । का रूप धारण करता है।

योरोपीय । र् । प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में भी । र्। तथा । ल्। के स्थान पर । र्। ही मिलता है।

5. शब्द रूप–

(i) शब्दों में व्यंजन ज्यों के त्यों रहे। मध्यकाल तक आते-आते लोप की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। इस काल में शब्द के दो विभाग मिलते हैं। अजन्त (स्वरान्त) और हलन्त (व्यंजनान्त) इन शब्दों में तीन लिंग, तीन वचन और आठ कारक थे। प्रत्येक शब्दों के आठ कारकों, तीनों वचनों, तीनों लिंगों के रूप 'रूप प्रत्यय' जोड़ने से सिद्ध होते हैं।

(ii) प्रातिपदिक में भिन्नता का कारण स्वराघात का स्थान परिवर्तन रहता है। सर्वनाम स्थान में प्रातिपदिक ह्रस्व हो जाता है। बहुधा यह देखने में आता है कि प्रातिपदिक सुप्प्रत्यय के मध्य कोई व्यंजन-ध्वनि आ जाती है। शब्दों की रूप-रचना प्राचीन काल से ही जटिल रही है और कुछ अधिक विकल्प मिलने के कारण अनियमित कही जाती है। लौकिक संस्कृत तक यह नियमितता अधिक बढ़ी है।

(iii) शब्दों में धातु का अर्थ सुरक्षित रहा है। वैदिक भाषा में धातु रूपों के तीन वचन, तीन पुरुष, दो वाच्य, चार काल (लट् । लङ् । लुङ्। लिट्) तथा पाँच भाव (। निर्देश । अनुज्ञा। संभावक । अभिप्राय । तथा निबंधी ।) हैं।

(iv) **रूप रचना**–वैदिक भाषा में विशेषणों के रूप भी संज्ञा के रूपों के समान चलते थे। इस भाषा में तुलना के लिए प्रयुक्त प्रत्यय–तर। तम। इयास । तथा । इष्ट। भी भारोपीय मूल भाषा के ही प्रत्ययों से विकसित हुए हैं।

(v) मूल भारोपीय भाषा में सर्वनाम के प्रातिपदिक बहुत अधिक थे, इसका कारण यह है कि पहले सभी मूलों के सभी रूप बनते थे, किन्तु कालान्तर में मिश्रण के कारण अनेक मूलों के अनेक रूप लुप्त हो गए और फिर विभिन्न मूलों से बने रूप एक ही मूल के रूप माने जाने लगे। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वनामों के पीछे अनेक रूपों की परंपरा है जो मूल भारोपीय भाषा तक चली गई है।

(vi) वैदिक भाषा में धातु रूप तीन पदों । आत्मनेपद। परस्मैपद। और । उभयपद। में चलते थे। कुछ धातुएँ परस्मैपदी और कुछ आत्मनेपदी थी। तो कुछ उभयपदी थीं। क्रिया के तीन पुरुष, तीन वचन और दस लकार। कालसूचक । रूप थे। वैदिक भाषा का लोट् लकार लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गया।

क्रिया रूपों की रचना धातु और प्रत्यय के बीच विकरण जोड़कर की जाती थी। इस विकरण की दृष्टि से धातुएँ दस गणों में विभक्त थी। वैदिक भाषा में समास की प्रवृत्ति मूल भारोपीय भाषा से विकसित है। भाषा में प्रायः दो शब्दों के ही समास मिलते हैं।

प्राचीन आर्य भाषा में धातुओं में लगने वाले कृत् प्रत्ययों और धातुओं से भिन्न शब्दों अर्थात् संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम में लगने वाले तद्धित प्रत्ययों की संख्या कई सौ थी। शब्द निर्माण की इतनी भारी सामर्थ्य के कारण ही संस्कृत बहुत समृद्ध और उन्नत भाषा बन गई थी और उसकी इसी सामर्थ्य से आज तक अनेक भाषाओं को लाभ हो रहा है। वैदिक भाषा में उपसर्ग क्रिया से अलग स्वतंत्र शब्दों के रूप में भी प्रयुक्त होते थे। वैदिक भाषा में असमापिका (पूर्वकालिक) क्रिया तथा क्रिया विशेषण के भी विविध रूप है। वैदिक में आज्ञार्थक रूप। धि। हि। आन। तात्। आम् । तम् ताम्। त् अथाम्। आदि कई विभक्ति-चिह्नों से बनते थे। संस्कृत में ये कम हो गए। तुमुनन्त रूप भी वैदिक में बहुत अधिक थे, संस्कृत में एक-दो रह गए।

6. शब्द भंडार–वैदिक भाषा में एक तो अनेक मूल शब्दों से विकसित रूप प्रयुक्त होने लगे। दूसरा आर्येत्तर भाषाओं के अनेक शब्दों को भी ग्रहण किया जाने लगा।

7. बोलियाँ तथा उपभाषाएँ–भारत वर्ष में आर्यों का आगमन कई अलग-अलग टोलियों में हुआ। फलस्वरूप उनकी भाषा में भी विभिन्नता पाई गई। यह भिन्नता (। र् । लू । ध्वनियाँ) कुछ टोलियों की बोली में। र् । और कुछ में। लू। के रूप में विकसित होकर प्रकट हुई। ये टोलियाँ ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर फैलती गईं; त्यों-त्यों स्थानीय भाषाओं के प्रभाव के कारण इनका स्वरूप बदलता गया। इस दृष्टि से वैदिक काल में प्राचीन आर्य भाषा के तीन रूप तो अत्यंत स्पष्ट हैं–पश्चिमोत्तरी, मध्यवर्ती तथा पूर्वी।

पश्चिमोत्तरी का क्षेत्र अफगानिस्तान से पंजाब तक था और इसमें । र् । ध्वनि अपने मूल रूप में प्रचलित था। मध्यवर्ती का क्षेत्र पंजाब से मध्य उत्तर प्रदेश तक था और इसमें । र्। का प्रयोग । र् । रूप में भी होता था और लू। के रूप में भी। पूर्वी क्षेत्र मध्य उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग था। और इसमें । र्। ध्वनि का स्थान पूर्णतः । लू। ध्वनि ने ले लिया था।

ऋग्वेद-संहिता के सूक्तों की रचना पंजाब प्रदेश से हुई थी, परन्तु आर्यों के दल निरन्तर पूर्व की ओर बढ़ने के कारण उन स्थानीय अनार्य जातियाँ भी पराभूत हुईं। फलस्वरूप उनके बीच आर्य संस्कृति एवं भाषा की प्रतिष्ठा हो रही थी। **'यजुर्वेद - संहिता** तथा प्राचीन-ब्राह्मण - ग्रंथों के प्रणयन के समय मध्य-देश आर्य संस्कृति का केन्द्र बन चुका था। स्थानीय अनार्य जातियों से संप तथा स्थान भेद के कारण भाषा में परिवर्तन होते जा रहे थे। प्राचीन वैदिक भाषा तथा दशम मंडल आदि की भाषा में जो भिन्न

2. प्राकृत भाषा की विशेषताएँ बताइए।

अथवा

प्राकृत भाषा के विभिन्न रूपों एवं उनकी विशेषताएँ बताइए।

उत्तर–प्राकृत भाषा का परिचय एवं विशेषताएँ–मध्य भारतीय आर्य भाषा के संक्रांति काल में (ई.पू. 200 से 200 ई. तक) हमने देखा कि स्वर मध्यम-अघोष-स्पर्श-व्यंजन, सघोष होने लगे थे। ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में उच्चारण की इस प्रवृत्ति ने नए परिवर्तन प्रकट होने लगे, जिन्होंने मध्य भारतीय आर्य भाषा का रूप बहुत बदल दिया। स्वर मध्यम–सघोष–स्पर्श व्यंजनों के उच्चारण में शिथिलता आ गई, जिससे वे ऊष्म ध्वनि के समान बोले जाने लगे। किन्तु यह परिवर्तन बहुत समय तक बना नहीं रह सका और कुछ समय पश्चात् शिथिलतापूर्वक उच्चारित ये सघोष व्यंजन ध्वनियाँ लुप्त होने लगी। इस परिवर्तन से भाषा का स्वरूप इतना परिवर्तित हो गया कि वह प्राचीन आर्य भाषा से भिन्न प्रतीत होने लगी। मध्य - भारतीय - आर्य भाषा के द्वितीय पर्व का यह परिवर्तन सबसे प्रमुख लक्षण है। निम्न उदाहरणों से यह क्रम स्पष्ट परिलक्षित होता है–

शुक-सुग। सुग - सुआ; मुख - मुघ। मुघ - मुह, हित - हिद। हिद - हिअ : कथा–कधा। कधा–कहा ;

सघोष–स्पर्श व्यंजनों के इस शिथिल ऊष्म - उच्चारण को प्रकट करने के लिए लिपि में किसी नवीन चिह्न का प्रयोग नहीं किया गया किन्तु रूप में परिवर्तन होता गया। लिखित भाषा में यह परिवर्तन प्रकट न होने के कारण उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरण ने यह समझ लिया कि अघोष–स्पर्श - व्यंजनों के घोषवत उच्चारण तथा सघोष व्यंजनों के लोप की प्रक्रिया समकालीन है और इस परिवर्तन रूप को व्याकरणकारों ने एक ही कालक्रम में रखकर विभिन्न नामों से अभिहीत किया। परिवर्तन की प्रथम स्थिति में वर्तमान भाषा को उन्होंने 'शौरसेनी' तथा अन्तिम स्थिति में वर्तमान स्वरूप को **'महाराष्ट्री'** की संज्ञा दी। किन्तु वास्तव में 'शौरसेनी' एवं महाराष्ट्री एक ही भाषा के रूप हैं।

प्राकृतों ने पालि के ध्वनिगत नियमों को दृढ़ता से आगे बढ़ाया। अर्थात् ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ऐ, औ, श, ष, और संयुक्त व्यंजन उसी तरह परिवर्तित होते रहे। व्यंजन ध्वनियों के इस क्रांतिकारी परिवर्तन के साथ-साथ शब्द एवं धातु रूपों के समीकरण की प्रक्रिया भी प्रगतिशील रही। शब्द रूपों की भिन्नताएँ बहुत कुछ प्रथम पर्व में ही समाप्त हो चुकी थीं। द्वितीय पर्व में अवशिष्ट रूप-भेद भी समाप्त हो गए और सभी शब्दों के रूप अकारान्त शब्द के समान निष्पन्न होने लगे। कारकों की संख्या भी कम हो गई। संप्रदान एवं संबंध-कारक के रूप समान हो गए। कर्ता एवं कर्म कारक बहुवचन का काम एक ही रूप से लिया जाने लगा। द्विवचन पूर्ण रूप से समाप्त हो गया। धातु रूपों में आत्मनेपद के बहुत कम या एक-दो रूप ही शेष रह गए और वह भी अपने

...अर्थ को छोड़ कर। लङ्, लिट् तथा विभिन्न प्रकार के लुङ् रूप समाप्त हो गए। कारक एवं क्रिया का संबंध ... मूल अर्थ को छोड़ कर। लङ्, लिट् तथा विभिन्न प्रकार के लुङ् रूप समाप्त हो गए। कारक अव्यय एवं कृदंत रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। वही कारक अव्यय आगे चलकर के लिए संज्ञा शब्द के साथ कारक, अव्यय एवं कृदंत रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। वही कारक अव्यय आगे चलकर आधुनिक भारतीय - आर्य - भाषा में **अनुसर्ग या परसर्ग बने**। इस प्रकार भारतीय आर्य भाषा का रूप विश्लेषणात्मक बनने लगा। मध्यकाल के द्वितीय पर्व तक आते-आते प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की शब्द एवं धातु रूपों की विविधता एवं संपन्नता समाप्त हो गई। परन्तु अब भी भाषा का रूप इस सीमा तक नहीं बदला कि जनसामान्य के लिए संस्कृत सर्वथा दुर्बोध हो जाए। संस्कृत नाटकों में विभिन्न प्राकृतों के प्रयोग की प्रथा से प्रतीत होता है कि संस्कृत साधारण जनता के लिए अभी भी बोधगम्य थी।

जिस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्य भाषा को साधारणतया संस्कृत कह दिया जाता है, उसी प्रकार मध्य भारतीय आर्य भाषा के लिए **'प्राकृत'** शब्द प्रयोग किया जाता है। 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रकृति' (जनसाधारण) से है। अतः प्रकृत का अर्थ हुआ जनसाधारण की भाषा। शिष्ट समाज की भाषा संस्कृत में अन्तर स्पष्ट करने के लिए जनसामान्य की भाषा को 'प्राकृत' की संज्ञा दी गई। उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरण **'पालि'** से परिचित नहीं थे और न ही अशोक के अभिलेखों की भाषा या अन्य अभिलेखों की भाषा उसके सामने थी। अतः उन्होंने संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त कुछ काव्य ग्रंथों एवं जैनों के धार्मिक ग्रंथों में व्यवहृत प्राकृतों पर ही विचार किया। अतः प्राकृत शब्द जैन–आगमों की 'आर्षी' अथवा अर्द्धमागधी तथा अन्य साहित्यिक रचनाओं की 'मागधी', 'शौरसेनी', 'महाराष्ट्री' तथा 'पैशाची' बोलियों के अर्थ में रूढ़ हो गया।

प्राकृत वैयाकरणों में सबसे पहले नाम **'वररुचि'** का आता है। वररुचि ने प्राकृत के चार भेद किए–महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। जैन आचार्य हेमचन्द्र ने **'आर्षी'** अथवा अर्द्धमागधी और **'शूलिका–पैशाचिक'** ये दो भेद भी स्वीकार किए हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में सात प्राकृतों का उल्लेख किया है–**शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी, दाक्षिणात्या, बाह्लीक, आवन्तिजा तथा प्राच्य।** प्राकृत वैयाकरण चंड ने 'प्राकृत-लक्षण' में महाराष्ट्री के अतिरिक्त गौण रूप में शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश का वर्णन किया है। 'साहित्य-दर्पण' में बारह प्राकृतों के नाम गिनाए गए हैं जिनमें शाकरी, द्राविड़ी, आभीरी और चांगली नए हैं। 'प्राकृत - लंकेश्वर में सोलह और प्राकृत-चंद्रिका' में सत्ताईस भेद बताए गए हैं। इन प्राकृतों की अनेक शाखाएँ रही होंगी, परंतु उनमें कोई साहित्य रचना न होने के कारण उनका पूरा परिचय नहीं मिलता। केवल यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ विशिष्ट शब्दरूपों से इसका अनुमान मात्र किया जा सकता है। साहित्यिक महत्ता की दृष्टि से शौरसेनी, पैशाची, महाराष्ट्री, मागधी और अर्द्धमागधी प्रमुख प्राकृत है। इनका परिचय एवं विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. शौरसेनी–मथुरा अथवा शूरसेन के राज्य के आस-पास की इस बोली का विकास तत्कालीन पालि के स्थानीय रूप से हुआ। मध्यदेश की भाषा होने के कारण कुछ विद्वान इसे परिनिष्ठित भाषा मानते हैं। मध्यदेश संस्कृत भाषा केन्द्र होने के कारण शौरसेनी अपने समय की सर्वाधिक अभिजात्य भाषा थी और अत्यन्त समादृत थी। एक समय यह उत्तर भारत की राष्ट्र-भाषा थी। दिगम्बर जैन मत का साहित्य सिद्धांत इसी में है। संस्कृत नाटकों में यह गद्य की भाषा है। शौरसेनी संस्कृत के अधिक निकट होने के कारण अन्य प्राकृतों की अपेक्षा इसमें तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों का प्राचुर्य है। ध्वनि विकास और व्याकरण की दृष्टि से शौरसेनी महाराष्ट्री से अधिक प्राचीन है और इसमें मध्यवर्ती एकल व्यंजन पूरी तरह लुप्त नहीं हुए थे। नाटकों में स्त्रियों का वार्तालाप शौरसेनी प्राकृत में होता है। केवल पद्य के लिए महाराष्ट्री थी। शौरसेनी से ही वर्तमान हिन्दी का विकास हुआ। राजशेखर कृत–**'कर्पूर-मंजरी'** का समस्त पद्य भाग शौरसेनी प्राकृत में है। भास, कालिदास के नाटकों में गद्य शौरसेनी में है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। इसमें सरसता, सरलता, श्रवण–सुखदत्ता अधिक थी। अतः यह अधिक लोकप्रिय हुई।

इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(i) असंयुक्त तथा दो स्वरों के मध्य आने वाले। त् । थ्। इसमें । द्। ध्। हो गए, जैसे–गच्छति–गच्छदि। कथय–कधोहि।

(ii) दो स्वरों के मध्य की द्, ध् ध्वनियाँ अपरिवर्तित है जैसे-जलद :–जलदो।

(iii) 'क्ष' ध्वनि 'क्ख' में परिवर्तन हो गई है जैसे इक्षु–इक्खु। कुक्षि–कुक्ख।

(iv) 'ऋ' स्वर 'ई' बन गया जैसे ऋण–रिण। ऋषि–रिषि।

(v) संयुक्त व्यंजनों के सरलीकरण की प्रवृत्ति है। जैसे–उत्सव–उसव।

(vi) धातु केवल परस्मैपदी है।

(vii) रूपों की दृष्टि से शौरसेनी संस्कृत से अधिक प्रभावित है। वास्तव में संस्कृत की उत्तराधिकारिणी शौरसेनी ही है।

2. पैशाची—पैशाची पैशाचिका, ग्राम्यभाषा, भूतभाषा, भूतबन, भूतभाषित आदि विभिन्न नामों से जानी जाने वाली यह भाषा उत्तर-पश्चिम के कश्मीर के समीप की भाषा है। हार्नले ने इसे द्रविड़ों द्वारा प्रयुक्त भाषा तथा पुरुषोत्तम देव ने संस्कृत और शौरसेनी का विकृत रूप माना है। पैशाची उन आर्यों की भाषा है जिन्होंने आर्य संस्कृत को पूरी तरह नहीं अपनाया था। इसके अवशेष चीनी, तुर्किस्तान, काफिरस्तान, गांधार आदि में पाए गए शिलालेखों में मिलते हैं। पंजाब, सिंध, बलोचिस्तान और कश्मीर की भाषाओं में पैशाची का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। गुणाढ्य कृत **'बृहत्कथा'** के कारण इसकी विशेष ख्याति है, परन्तु मूल कृति अप्राप्य है। उसके संस्कृत रूपांतर उपलब्ध हैं। गुणाढ्य प्रतिष्ठान के राजा शातिवाहन (सन् 78 ई. के आस-पास) द्वारा निर्वासित होकर ये पिशाच देश में जा बसे थे। वहीं उन्होंने लोककथाओं का अपूर्व संग्रह संपादित किया था। पैशाची का हिंदी प्रदेशों से कोई विशेष संपर्क नहीं था।

प्रसंगवश यह उल्लेख करना आवश्यक है कि पिशाच देश के पश्चिम में निय नामक स्थान में खरोष्ठी लिपि में जो अभिलेख प्राप्त हुए, उसे निय प्राकृत कहा गया। तीसरी सदी तक यह भाषा पश्चिमोत्तर प्रदेश में व्याप्त थी। इसकी भाषा मूलतः भारत के उत्तर-पश्चिम अंचल की भाषा है। जिसका पश्चिम में अशोक के शाहबाजगढ़ी एवं मनेसरा अभिलेखों में मिलता है, परन्तु इस पर पड़ोसी देशों की ईरानी, मंगोल, तुखारी आदि भाषाओं का भी प्रभाव रहा है। प्राकृत-धम्मपद की भाषा का भी यही रूप है। परन्तु साहित्यिक भाषा होने के कारण इसमें अधिक प्राचीन रूप स्थान पा सके हैं। खरोष्ठी लिपि में लिखे जाने के कारण इसमें दीर्घ स्वरों के स्थान पर ह्रस्वस्वर एवं संयुक्त व्यंजनों में से केवल एक व्यंजन ही लिखा गया है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) दो स्वरों के मध्यस्थ स्पर्श (कवर्ग । प वर्ग) वर्गों के घोष व्यंजन (तृतीय, चतुर्थ) अघोष (प्रथम, द्वितीय) हो गए हैं। जैसे—गगन-गकन। मेघ - मेख। राजा - राचा। दामोदर - तामोतर। आदि।

(ii) र्, ल् का वैकल्पिक (र् के स्थान पर ल् तथा ल् के स्थान पर र् का) प्रयोग मिलता है। जैसे—रुद्र—लुद्द। कुमार - कुमाल। फल - फर।

(iii) मूर्धन्य ष् के स्थान पर तालव्य श् और दन्त्य स् ध्वनियाँ मिलती हैं, जैसे—तिष्ठति - चिस्तादि। विषम - विसम।

(iv) स्पर्श के मध्य आने वाले स्वरों का लोप नहीं होता, जैसे—नगर-नकर।

(v) ल् ध्वनि वैदिक ध्वनि के रूप में मिलती हैं, जैसे—
जल-जल। सलिल-सलिल। कुल-कुल। आदि।

(vi) ण् के स्थान पर न् और न् के स्थान पर ण् ध्वनि मिलती है, जैसे—
गुण-गुन। अधुना-अहुणा।

(vii) लिंग और वचन दो-दो है। कारक साहित्यिक प्राकृत की अपेक्षा कम हैं। क्रिया रूप प्रायः प्राकृत के समान हैं।

3. मागधी—मगध के आस-पास की इस भाषा को लास्सन आदि विद्वानों ने महाराष्ट्री से अभिन्न माना है। वररुचि ने इसका उद्गम शौरसेनी से बताया है। लंका में पालि को ही मागधी कहा जाता है। मागधी का प्रयोग संस्कृति नाटकों में और वह भी निम्न पात्रों द्वारा हुआ है। मागधी में कोई स्वतंत्र रचना नहीं मिलती है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। कालिदास के नाटकों में तथा शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में मागधी का प्रयोग हुआ है। भरत के **'नाट्यशास्त्र'** के अनुसार इसका प्रयोग अन्तःपुर के नौकर, अश्वपालक आदि करते थे। मार्कण्डेय के अनुसार भिक्षु, श्वपाक, राक्षस, चेट आदि मागधी बोलते थे। इसके जातीय रूप हैं—वाहिलकी, ढक्की, शावरी तथा चाण्डाली। इसकी एक उपबोली-शाकरी-का भी उल्लेख, अपनी विकसित हुई है। इसकी प्रमुख भाषिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(i) स्, ष् ध्वनियों के स्थान पर श् ध्वनि मिलती है, जैसे—सप्त, शप्त। पुरुष-पुलिश।

(ii) र् ध्वनि सर्वत्र 'ल्' का रूप लेती है, जैसे—राजा-लाजा।

(iii) 'स्थ' और 'र्थ' के स्थान पर 'स्त' मिलता है, जैसे—उपस्थित-उवस्तिद्, अर्थवती-स्तवती।

(iv) ज् के य् होने की प्रवृत्ति भी मिलती है, जैसे—जानाति-याणादि। जायते-यायदे।

(v) प्रथम ऊष्म वाले संयुक्त व्यंजनों में अन्य प्राकृतों के समान परिवर्तन नहीं होता-हस्त-हस्त।

(vi) शब्द के प्रथम एकवचन के रूपों के अः के स्थान पर 'ए' मिलता है। देवः-देवे। सः-से।

4. अर्द्ध मागधी—यह मागधी और शौरसेनी के मध्यवर्ती क्षेत्र प्राचीन कौशल के आस-पास की भाषा है। मागधी की प्रवृत्तियों को पर्याप्त मात्रा के लिए रहने के कारण ही इसका नाम अर्द्ध मागधी है। जैन विद्वान तो इसे 'आर्षी' कहते थे और आदि भाषा मानते थे। जैन आर्यों ने इस भाषा में शास्त्र की रचना की। जैन साहित्य-गद्य और पद्य में इसका प्रयोग हुआ है। अश्वघोष की रचनाओं **'मुद्रा राक्षस'** तथा **'प्रबोध-चन्द्रोदय'** आदि नाटकों में इसका प्रयोग मिलता है। विश्वनाथ कविराज ने **'साहित्य-दर्पण'** में इसे एक ओर गुप्तचरों और दूसरी ओर सेठों तथा राजपुत्रों की भाषा कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि इसका संबंध लोकजीवन की अपेक्षा अभिजात्य वर्ग से अधिक था। इसी से पूर्वी हिन्दी का विकास माना जाता है। इस भाषा की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(i) श्, ष् के स्थान पर प्रायः 'स्' मिलता है जैसे श्रावक-सावक। वर्ष-वास।

(ii) दन्त्य—ध्वनियाँ (लृ, त वर्ग ल तथा स) मूर्धन्य (ऋ, ट वर्ग, र तथा ग) हो गयी हैं। जैसे। स्थित-ठीय। कृत्वा-कट्ट) आदि।

(iii) च वर्ग के स्थान पर कहीं-कहीं ल-वर्ग मिलता है—चिकित्सा-तेइच्छा।

(iv) इसमें र् एवं ल् दोनों ही ध्वनियाँ विद्यमान हैं।

(v) क् के ग् ध्वनि होने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती हैं—एक-एग।

(vi) स्वरों के मध्यवर्ती स्पर्श व्यंजन के स्थान पर य् श्रुति मिलती है—सागर-सायर, स्थित-ठीय।

(vii) गद्य और पद्य की भाषा में अन्तर है—गद्य में सम्बोधन रूप 'ए' से और पद्य में 'ओ' से बनता है।

इस प्राकृत में लगभग **45** ग्रंथ प्राप्त हैं जो तीसरी और छठी शताब्दी के बीच लिखे गए हैं।

5. महाराष्ट्री—साहित्यिक प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत सर्वाधिक विकसित है। प्राकृत वैयाकरणों ने इसको आदर्श प्राकृत माना है और सबसे पहले उन्होंने ही इसका विवेचन किया। संस्कृत-नाटकों में प्राकृत-पद्य रचना प्रायः महाराष्ट्री में ही हुई है। डॉ. सुकुमार सेन आदि कुछ विद्वानों ने इसका क्षेत्र महाराष्ट्र (भारत का दक्षिण प्रांत) न मानकर पूरा भारत मानते हैं और महाराष्ट्र शब्द का अर्थ ही वृहत राष्ट्र (भारत) मान लेते हैं। काव्य भाषा के रूप में यह पूरे उत्तर भारत में प्रचलित रही है। कालिदास तथा हर्ष ने अपने नाटकों के गीत इसी भाषा में लिखे हैं। श्वेताम्बर मुनियों ने अपने गद्य ग्रंथों का सृजन इसी भाषा में किया है। गद्य की ही तरह पद्य की भी यह सम्मानित भाषा रही है। **'गाहा सतसई', 'रावण वहो' बज्जालग्ग'** आदि इस प्राकृत की अमर काव्य कृतियाँ हैं। गीति, खंड-काव्य, महाकाव्य आदि सभी काव्य रूपों की प्रमुख भाषा होने के कारण यह अत्यन्त समृद्ध भाषा रही है। इसे परिनिष्ठित भाषा मान कर विद्वानों ने इसका विस्तृत वर्णन किया है एवं अन्य प्राकृतों के अन्तर को देखकर 'शेष महाराष्ट्रीवत्' कहा है। 'बज्जलग्ग' काव्य में जयवल्लभ ने इसे संस्कृत से अधिक मधुर बताया है।

महाराष्ट्री प्राकृत की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसमें स्वर के मध्यम स्पर्श व्यंजनों का लोप हो गया है। स्वरमध्यम क्, त्, प्, ग, द्, ब् पूर्णतया लुप्त हो गए हैं और ख्, थ्, फ्, ध्, भ् के स्थान पर केवल प्राण ध्वनि 'ह' बची रही है। यह परिवर्तन मध्य-भारतीय-आर्य भाषा के द्वितीय पर्व के विकास की चरमावस्था है। शौरसेनी एवं महाराष्ट्री प्राकृत में प्रमुख भिन्नता इसी परिवर्तन में हैं अन्यथा महाराष्ट्री-प्राकृत शौरसेनी से बहुत अधिक साम्य रखती है। निस्संदेह महाराष्ट्री प्राकृत आधुनिक मराठी का पूर्ण रूप है और शौरसेनी से सादृश्य होने के अतिरिक्त इसमें आधुनिक मराठी के शब्द रूप भी विद्यमान हैं। डॉ. मनमोहन घोष के अनुसार महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी का विकसित रूप है। इन दोनों प्राकृतों में भेद स्थानगत न होकर कालगत था। इसके बाद महाराष्ट्री प्राकृत दक्षिण पहुँची और काव्य भाषा बन गयी। वहाँ वह स्थानीय लोकभाषा से भी प्रभावित हुई, जिसके कारण इसने अनेक मराठी रूप अपना लिए। दक्षिण से यह भाषा उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में लौटी और इसमें प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ। इस प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी प्राकृत का ही विकसित रूप है। महाराष्ट्री प्राकृत की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(i) दो स्वरों के मध्यवर्ती अल्पप्राण स्पर्श (क । त् । प् । ग् । द् । ब् । प्रायः लुप्त हो गए हैं जैसे—प्राकृत-पाउऊ। गच्छति-गच्छइ।

(ii) दो स्वरों के मध्यवर्ती महाप्राण व्यंजन (ख्, थ्, ध् आदि) ह ध्वनि में बदल गए जैसे—क्रोध-कोह। कथयसि-कहेहि। मुख-मुँह।

(iii) दन्त्य तथा तालव्य ऊष्म ध्वनियों (स्, श्) के स्थान पर 'ह' मिलता है जैसे—तस्य-ताह। पाषाण-पाहाण।

(iv) कर्मवाच्य का 'य' प्रत्यय 'इज्ज' में बदल गया, जैसे—गम्मते-गमिज्जइ।

(v) पूर्वकालिक क्रिया के रूप की रचना में 'ऊण' प्रत्यय का प्रयोग होता है, जैसे—पृष्ट्वा-पुच्छिऊण।

(vi) अपादान एकवचन में साधारणतया-'अहि' प्रत्यय लगता है, जैसे—दूरात्-दुराहि।

(vii) अधिकरण एकवचन के रूप-'म्मि' अथवा 'ए' के योग से बनते हैं, जैसे—लोके-लोए अथवा लोकेस्मिन्-लोअम्मि।

(viii) 'आत्मन्' का प्रतिरूप महाराष्ट्री प्राकृति में 'अप्प' हुआ है।

◆◆◆

3. अपभ्रंश भाषा के विकास एवं उसकी विभाषाओं का परिचय दीजिए। (Most Imp.)

अथवा

अपभ्रंश भाषा की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर—अपभ्रंश भाषा—मध्य-भारतीय-आर्य-भाषा के विकास के अंतिम सोपान को 'अपभ्रंश' नाम से अभिहित किया जाता है। 'अपभ्रंश' मध्य भारतीय आर्य भाषा और आधुनिक आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी है। प्रत्येक आधुनिक भारतीय आर्य भाषा को 'अपभ्रंश' की स्थिति पार करनी पड़ी है। अपभ्रंश की अन्तिम सीमा अवहट्ठ भाषा है जो अपभ्रंश एवं आधुनिक आर्य भाषाओं के मध्य की कड़ी एवं सन्धिकालीन भाषा है। जैसे संस्कृत के साहित्यिक रूप में व्याकरणबद्ध कर देने पर जनभाषा ने प्राकृतों का रूप धारण कर लिए, वैसे ही 'प्राकृतों' का भी जब साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग होने लगा और वे नियम बद्ध कर दी गई तब देशी बोलियों का नया विकास होने लगा जिसके विकसित स्वरूप को **'अपभ्रंश'** कहा गया है।

महाभाष्यकार पतंजलि ने लिखा है—(अपशब्द बहुत हैं, शब्द अल्प हैं, एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश है, जैसे 'गो' शब्द के 'गावी', 'गोणी', गोता', गोपोतलिका' आदि।) 'शब्द' से आचार्य पतंजलि का तात्पर्य 'पाणिनीय' व्याकरण के सिद्ध शब्द से है और अपभ्रंश का प्रयोग उन्होंने 'अपशब्द' के समानार्थक के रूप में किया है।

ईसा की छठी शताब्दी में प्राकृत—वैयाकरण चण्ड ने अपने ग्रंथ 'प्राकृत-लक्षणम्' में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग के अर्थ में किया है। आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रंथ में संस्कृत एवं प्राकृत के बाद अपभ्रंश को रखा है और आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में अपभ्रंश को 'अभीरादिगिरः' कहकर आभीरों की भाषा बाताया है। इससे स्पष्ट है कि ईसा की छठी शताब्दी तक 'अपभ्रंश' शब्द किसी भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा था और यह भाषा आभीर आदि जातियों में बोली जाती थी।

ईसा की नवीं शताब्दी में आचार्य रुद्रट ने संस्कृत एवं प्राकृत के साथ 'अपभ्रंश' का उल्लेख करते हुए देशभेद से इसके अनेक भेद कहे हैं। इससे अपभ्रंश के विस्तार का पता चलता है। ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में प्राकृत-वैयाकरण पुरुषोत्तम ने 'अपभ्रंश' को शिष्ट-वर्ग की भाषा स्वीकार किया और बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने 'अपभ्रंश' का व्याकरण लिखा है। इस प्रकार ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न कालों में 'अपशब्द', 'विभाषा', 'लोकभाषा', शिष्ट भाषा एवं साहित्यिक भाषा के अर्थों में किया गया है।

डॉ. तिवारी के अनुसार लगभग तीसरी सदी तक विकृत-शब्दों को अपभ्रंश या विभ्रष्ट आदि कहा तो जाता था परन्तु किसी भाषा के अर्थ में इस प्रकार के अपभ्रंश शब्दों के अधिक प्रयोग के कारण ही वह भाषा अपभ्रंश या अपभ्रष्ट कही जाने लगी और स्वयं ये नाम भी अपभ्रंशित होकर अबष्भंस, अवहत्थ, अवहट्ट, अवहट्ठ, अवहठ् एवं अवहट आदि रूपों में उस भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगे। डॉ. उदय नारायण तिवारी ने अपभ्रंश का जन्मकाल सातवीं शती माना है। डॉ. भोलानाथ तिवारी अपभ्रंश का जन्म पाँचवीं शती स्वीकार करते हुए अपने पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(1) अपने ग्रंथ 'प्राकृत पैंगलम्' में भाषा के अर्थ में अपभ्रंश का प्रयोग छठी शताब्दी में चण्ड ने किया। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग जिस सामान्य रूप से किया है उससे इसके पर्याप्त प्रचलन की जानकारी मिलती है।

(2) छठी शताब्दी के ही आचार्य भामह ने संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश का प्रयोग करते हुए इसे काव्योपयोगी बताया।

(3) छठी शताब्दी के बल्लभी नरेश धरसेन (द्वितीय) के एक ताम्र लेख में तीन भाषाओं संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का उल्लेख हुआ है।

इन प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कोई भी भाषा जन्म लेते ही काव्य भाषा नहीं बन जाती। काव्य भाषा के पद पर आसीन होने के लिए उसे अपने जन्म के बाद करीब पचास-सौ साल लग जाते हैं। यद्यपि अपभ्रंश का प्रयोग दसवीं शताब्दी के बाद भी साहित्य में होता रहा तथा उसकी उत्तर-सीमा दसवीं सदी ही ठहरती है, क्योंकि 1000 ई. के आस-पास हिन्दी आदि आधुनिक आर्य भाषाओं के जन्म और विकास के स्पष्ट प्रमाण हैं।

अपभ्रंश की विभाषाएँ अथवा रूपभेद–ईसा की छठी शती से लगभग 12वीं शती तक अपभ्रंश का जो साहित्य मिलता है उसमें भाषागत भेद बहुत कम है। इसका पूरा साहित्य एक ही परिनिष्ठित-भाषा का है। उपलब्ध रचनाओं के आधार पर अपभ्रंश का क्षेत्र पूरा आर्य भाषा-भाषी भारत है। वस्तुतः अपभ्रंश प्राकृतों और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बीच की कड़ी है। वैयाकरणों ने और विशेष रूप से उत्तरकालीन वैयाकरणों ने अपभ्रंश के देश भेद से अनेक भेद बताए हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराणकार ने अपभ्रंश के तीन भेद माने हैं–उपनागर, आभीर और ग्राम्य। रुद्रट के **'काव्यालंकार'** के टीकाकार नमिसाधु ने अपभ्रंश के तीन भेद बताए हैं–उपनागर, आभीर और ग्राम्य। मार्कण्डेय ने **'प्राकृतसर्वस्व'** में नागर, उपनागर और व्राचड़ तीन भेद दिए हैं। अपभ्रंश के व्याकरणकार पुरुषोत्तम ने 'प्राकृतानुशासन' में अपभ्रंश के चौदह भेदों का उल्लेख किया है–नागर, उपनागर, व्राचड़, पांचाल, वैदर्भी, लाटी, ओड़ी, केकय, गौड़ी, टक्क, वर्बर, कुन्तल, पाण्ड्य, तथा सिंहला।

आधुनिक काल के विद्वानों में डॉ. याकोबी ने अपभ्रंश के चार-पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी और उत्तरी भेद माने हैं। डॉ. नामवर सिंह ने इसके केवल पूर्वी और पश्चिमी दो भेद माने हैं। दक्षिणी भेद को उन्होंने व्यर्थ माना है। डॉ. तैगाड़े ने उत्तरी अपभ्रंश को अस्वीकार करते हुए इसके पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी तीन भेद माने हैं। वास्तव में एक भाषा की अनेक विभाषाएँ होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। स्थानीय प्रभाव के कारण भाषा का रूप भिन्न-भिन्न स्थानों पर कुछ न कुछ भिन्न होता है। अतः अपभ्रंश के भी देशगत अनेक भेद रहे होंगे। अपभ्रंश साहित्य का विकास पश्चिमी मालवा, राजस्थान और गुजरात में हुआ। अतः इस प्रदेश की अपभ्रंश तत्कालीन साहित्यिक भाषा बन गई और बंगाल एवं दक्षिण में भी इस भाषा में साहित्य की रचना हुई। यही कारण है कि अपभ्रंश-साहित्य में एक ही परिनिष्ठित अपभ्रंश मिलती है किन्तु जिस प्रकार प्राकृतों के पाँच प्रमुख भेदों के अतिरिक्त अन्याय दूसरे भेद हैं, उसी प्रकार आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के आठ-दस भेद हैं, उसी प्रकार उन दोनों के मध्यवर्ती अपभ्रंश भाषा के भी अनेक क्षेत्रीय रूप प्रचलित रहे होंगे।

डॉ. चटर्जी तथा डॉ. सेन आदि आधुनिक विद्वानों ने अपभ्रंश के ऐतिहासिक भेदों का उल्लेख करते हुए प्राचीन अपभ्रंश को अपभ्रंश तथा उत्तर अपभ्रंश को अवहट्ठ नाम दिए हैं।

क्षेत्रीय दृष्टि से अपभ्रंश के छह शौरसेनी, महाराष्ट्री अर्धमागधी, मागधी, व्राचड़, पैशाची अथवा केकय-टक्क भेद माने गए हैं।

अपभ्रंश की प्रमुख विशेषताएँ–अपभ्रंश भाषा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) भाषा श्लिष्ट योगात्मक से वियोगात्मक होने लगी।

(2) प्राकृत के सभी स्वर और व्यंजन ध्वनियाँ अपभ्रंश में हैं।

(3) वैदिक संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलाघात स्वर हो गया।

(4) सभी स्वरों का आधुनिक रूप (ऋ को छोड़कर) अपभ्रंश में भी है।

(5) अपभ्रंश में शब्दों के अन्त में उ लगाने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई–अंगु, जगु, पुत्रु।

(6) दन्त्य-व्यंजन मूर्धन्य होने लगे।

(7) श और ष का प्रायः लोप हो गया।

(8) ए के इ, ई भी लोने लगे-लेख-लिह, लीह।

(9) मध्यगत प्रथम और द्वितीय वर्ण के क्रमशः तृतीय और चतुर्थ वर्ण होते हैं। जैसे–शपथ-सवध। कथित-कधिद।

(10) कहीं-कहीं मध्यगत 'म' को 'वँ' भी बोलते हैं–भ्रमर-बवँरु।

(11) संयुक्ताक्षरों में 'र' का प्रायः लोप होता है–प्रिय-पिंउ। चन्द्र-चन्द।

(12) जहाँ 'र' नहीं है, वहाँ भी 'र' का आगमन हो जाता है। जैसे–व्याकरण-व्रागरण।

(13) प्राकृत के तुल्य समीकरण, लोप, आगम आदि की प्रवृत्ति और बढ़ गई।

(14) संयुक्त व्यंजनों में एक व्यंजन का लोप और पूर्ववर्ती ह्रस्वस्वर दीर्घ होता है, जैसे-कस्य-कासु। तस्य-तासु।

(15) शब्द रूप और धातु रूप बहुत कम हो गए हैं।

(16) विभक्तियों के स्थान पर कारक-चिह्न (परसर्ग) आने लगे, जैसे—करण-सहुं। संप्रदान-केंह्टि, रेशि। अपादान-होन्त। सबंध-केर, कर। अधिकरण-मऽझ, महे।

(17) नपुंसक लिंग शब्द समाप्त हो गए।

(18) अकार पुल्लिग शब्दों के तुल्य अधिकांश शब्द रूप चलने लगे।

(19) शब्दरूपों में बहुत संक्षेप हो गया। सभी कारकों के स्थान पर तीन कारक-समूह रह गए—

(i) कर्ता-कर्म, संबोधन।

(ii) करण, अधिकरण।

(iii) संप्रदान, अपादान, संबंध।

अतः शब्द रूप में छह रूप रह गए।

— 3 कारक × 2 वचन, संस्कृत में 26 रूप थे, प्राकृत में 12।

(20) द्विवचन का पूर्णतया अभाव है।

(21) धातु रूपों में आत्मनेपद का अभाव है।

(22) धातु रूपों में प्रायः लट्, लोट्, लृट्, ही शेष रहे।

(23) ये छह तद्धित प्रत्यय प्रयुक्त होने लगे।

(i) उ—पुनः पुणु।

(ii) एं या अ-अवश्यं-अक्सें, अवस।

(iii) आर, तुहार, अम्हार।

(24) द्राविड़ एवं विदेशी भाषा के बहुत शब्द भी आ गए।

(25) वाक्यों में पदक्रम निश्चित हो गया। इससे विभक्ति लोप-जन्य अस्पष्टता कुछ कम हो गई।

◆◆◆

1.3. आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ : परिचय

1. आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास का परिचय एवं विशेषताएँ बताइए। (Most Imp.)

अथवा

विभिन्न आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का परिचय देते हुए आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ—भारतीय आर्य भाषा में विकास का जो क्रम पालि से प्रारंभ हुआ था वह आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के रूप में पूर्णत्व को पहुँचा। विद्वानों का अनुमान है कि छठी से ग्यारहवीं सदी के मध्य प्रचलित प्रत्येक प्राकृत का एक-एक अपभ्रंश रूप रहा होगा, जिनसे आधुनिक आर्यभाषाएँ तथा उपभाषाओं के प्रादुर्भूत होने की संभावना व्यक्त की जाती है। ये हैं—

(1) शौरसेनी से—गुजराती (भाषा), राजस्थानी (उपभाषा), पश्चिमी हिंदी (उपभाषा)।

(2) खस से—पहाड़ी (उपभाषा)।

(3) अर्धमागधी से—पूर्वी हिंदी (उपभाषा)।

(4) मागधी से—बिहारी (उपभाषा), बंगाली (भाषा), असमी एंव उड़िया (भाषा)।

(5) महाराष्ट्री से—मराठी (भाषा)।

(6) पैशाची से—लहँदा (भाषा, केकय अपभ्रंश से), पंजाबी (भाषा, टक्क अपभ्रंश से)।

(7) ब्राचड से—सिंधी (भाषा)।

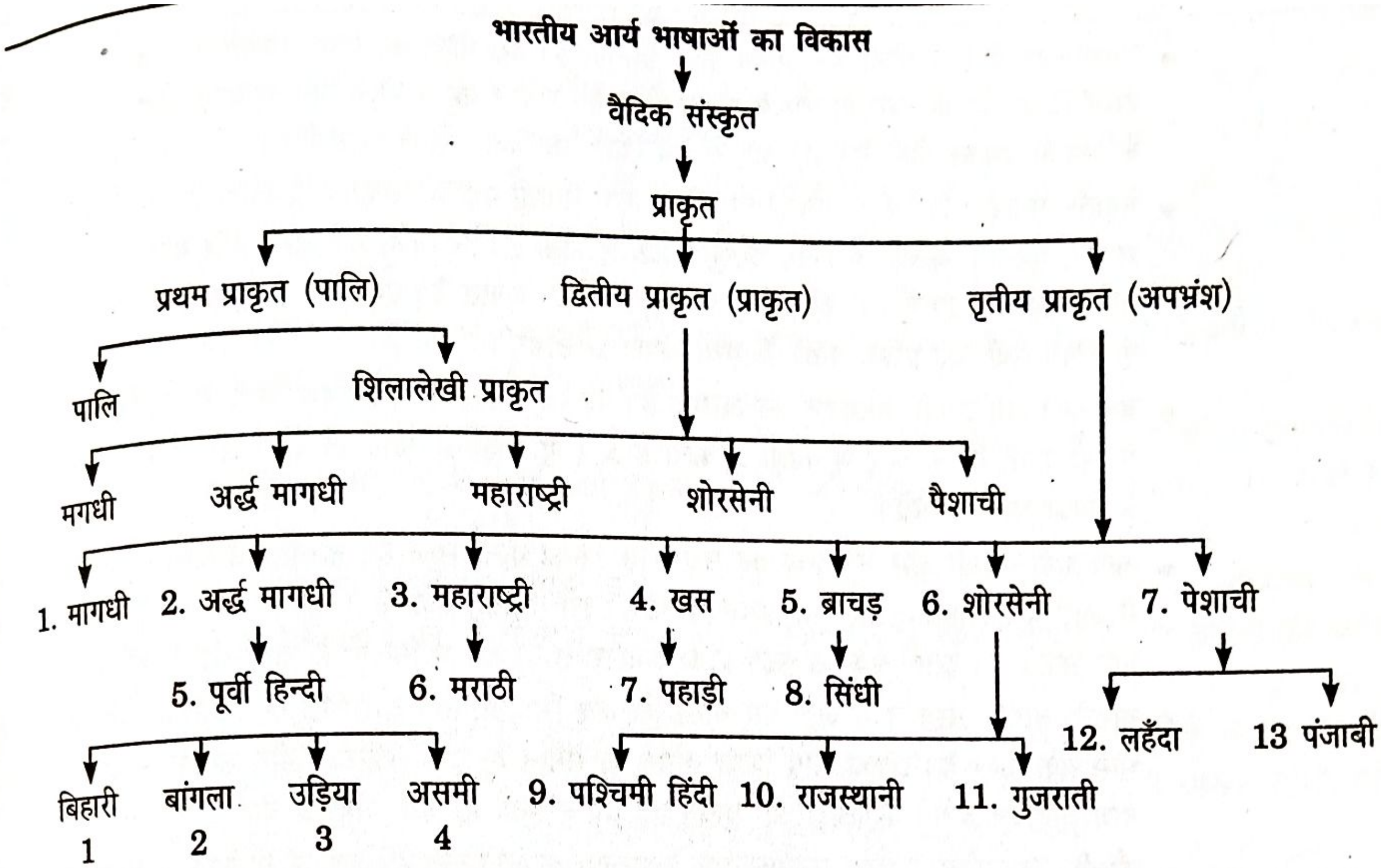

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का परिचय–आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उद्भव 1000 ई. में लगभग हुआ है। इस वर्ग की भाषाओं का काल तब से अब तक माना गया है। इस काल में प्रयुक्त भाषाओं की गणना आधुनिक भारत आर्यभाषाओं में की जाती है। इस वर्ग की भाषाओं के विकास के कुछ समय पश्चात् से सम्बन्धित साहित्य प्राप्त होता है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास अपभ्रंश के विभिन्न रूपों में हुआ है। इसलिए इन दोनों वर्गों की भाषाओं में पर्याप्त समता है और अनेक भिन्न विशेषताओं का भी विकास हुआ है। इस वर्ग की भाषाओं की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके आधार पर इन्हें अन्य वर्ग की भाषाओं से अलग कर सकते हैं। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

(क) शौरसेनी–पश्चिमी हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी।

(ख) महाराष्टी–मराठी।

(ग) मागधी–बिहारी, बांग्ला, उड़ीसा, असमी।

(घ) अर्ध मागधी–पूर्वी हिन्दी।

(ङ) पैशाची–लहंदा, पंजाबी।

(च) ब्राचड़–सिन्धी।

(छ) खस–पहाड़ी।

1. पश्चिमी हिन्दी–इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसमें बाँगरू (हरियाणवी), खड़ी-बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी तथा बुन्देली पाँच मुख्य बोलियाँ मिलती हैं।

(i) बांगरू–बांगरू नाम एक खेत्रा विशेष, जो ऊँची भूमि से सम्बन्धित हो उसे **'बांगर'** कहते हैं, के आधार पर हुआ है। इसे जाटँ, देसाड़ी और हरियाणवी नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। आजकल इसे प्रायः हरियाणवी ही कहते हैं। हरियाणा में इस बोली का प्रयोग होता है। हरियाणा का उद्भव भी हिन्दी की इसी बोली हरियाणवी के आधार पर हुआ है। हरियाणा का सीमा-निर्धारण भी इसी बोली हरियाणवी के आधार पर हुआ है। इस बोली के उद्भव के विषय में माना जाता है कि खड़ी-बोली पर पंजाबी तथा राजस्थान के प्रभाव के आधार पर यह रूप सामने आया है। इस बोली के लोक साहित्य का समृद्ध भण्डार है। इस बोली की लिपि देवनागरी है। बाँगरू को मुख्य उपवर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

- **बाँगरू**–यह केन्द्रीय बोली है। इसका केन्द्र रोहतक है। इस बोली का प्रयोग दिल्ली के निकट तक होता है। इसमें क्रिया 'है' का 'सै' के रूप में प्रयोग होता है। णकार बहुला बोली होने के कारण 'न' ध्वनि प्रायः 'ण' के रूप में प्रयुक्त होती है। श, 'ष', स का स्थान 'स' ध्वनि ने ले लिया है।
- **मेवाती**–मेव-क्षेत्र विशेष के आधार पर इसका नाम मेवाती पड़ा है इसका केन्द्र रेवाड़ी है। इस बोली का प्रयोग झज्जर, गुड़गाँव, बाबल तथा नूह के कुछ अंश में होता है। इसे ब्रज, राजस्थानी और बांगरू का मिश्रित रूप मान सकते हैं। इसमें 'ण' और 'ल' का बहुत प्रयोग मिलता है। एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए 'ए' के स्थान 'आँ' का प्रयोग करते हैं; यथा-छोहरा > छोहरॉं।
- **ब्रज**–ब्रज क्षेत्र इसके नामकरण का आधार है। पलवल इसका केन्द्र है। इस बोली में ड और ल ध्वनि प्रायः 'र' हो जाती है–ल > र ण् काला > कारा ड > र ण् कीड़ी > कीरी यह बोली ओकारान्त बहुला है–खाया > खोया गया > गयो।
- **अहीरवाटी**–रेवाड़ी और महेन्द्रगढ़ का मध्य क्षेत्र इसका केन्द्र स्थल है। नारनौल से कोसली तक और दिल्ली से आस-पास तक इस बोली का प्रयोग होता है। इसे मेवाती, राजस्थानी, बाँगरू और बागड़ी का मिश्रित रूप मान सकते हैं। इसमें अकरांत संज्ञा प्रायः ओकारान्त के रूप में मिलती है; यथा–था > था।
- **बागड़ी**–बागड़ी संस्कृति से जुड़ी इस बोली का क्षेत्र भिवानी, हिसार, सिरसा के अतिरिक्त महेन्द्रगढ़ के कुछ भाग तक फैला है। इसकी लोप क्रिया बांगरू के समान है; यथा अहीर > हीर, उठाना > ठाना, अनाज > नाज बहुवचन बनाने के लिए 'आ' प्रत्यय का प्रयोग होता है; जैसे–बात > बाताँ।
- **कौरवी**–उत्तर प्रदेश के मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर के अतिरिक्त हरियाणा के सोनीपत, पानीपत और करनाल तक इसका क्षेत्र फैला है। इसमें खड़ी-बोली की प्रवृत्ति मिलती है; यथा–है, ना (पाना, खाना)। व्यंजनों में द्वित्वीकरण प्रवृत्ति है; यथा-लोप-प्रक्रिया रोचक है–अनार > नार, उतार > तार।
- **अम्बावली**–इसका प्रयोग क्षेत्र अम्बाला, यमुनानगर तथा कुरुक्षेत्र तक विस्तृत है। अम्बावली और कौरवी में बहुत कुछ साम्य है। वैसे इस पर पंजाबी, पहाड़ी तथा बाँगरू इसमें महाप्राण ध्वनि बलाघात से अल्पप्राण हो जाती है; यथा–हाथ > हात, साथ > सात आदि लोप प्रक्रिया के समान है।

(ii) खड़ी बोली–इस बोली का प्रयोग दिल्ली और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के कुछ जिलों में होता है। इसके दो रूप हैं–एक साहित्यिक हिन्दी, दूसरा उसी क्षेत्र का लोक-बोली। 'खड़ी-बोली' के नाम के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसे खड़ेपन (खरेपन) अर्थात् शुद्धता के कारण इसे 'खड़ी बोली' कहते हैं, तो कुछ विद्वानों का कहना है कि खड़ी पाई (आ की मात्रा 'ा') के बहुल प्रयोग (आना, जाना, खाना आदि) के कारण इसे खड़ी-बोली की संज्ञा दी जाती है। इसका क्षेत्र दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, बिजनौर, मुरादाबाद तथा रामपुर के अतिरिक्त इनके समीपस्थ जनपदों के आंशिक भागों तक फैला हुआ है। खड़ी-बोली में साहित्य की दो शैलियाँ हैं–पहली उर्दू प्रभावित, दूसरी तत्सम शब्दावली बहुला परिनिष्ठित शैली। भारत की राजभाषा, राष्ट्र-भाषा में ही इसी रूप को अपनाया गया है। वर्तमान समय में हिन्दी की साहित्यिक रचना मुख्यतः इसी में हो रही है।

(iii) ब्रज-भाषा–ब्रज क्षेत्र विशेष में बोली जाने वाली बोली को ब्रज-भाषा कहते हैं। ब्रज-भाषा मथुरा, आगरा, अलीगढ़ धौलपुर, मैनपुरी आदि जनपदों में बोली जाती है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में ब्रजभाषा को साहित्य रचना का मुख्य आधार बनाया गया इसमें रचना करने वाले मुख्य साहित्यकार हैं–सूरदास, नन्ददास, बिहारी, केशव तथा घनानन्द आदि। यह भाषा माधुर्य गुण सम्पन्नता के लिए प्रसिद्ध है।

(iv) कन्नौजी–यह कन्नौजी विशेष क्षेत्र की बोली है, जिसका प्रयोग इटावा, फरुखाबाद, शाहजहाँपुर, हरदोई तथा कानपुर आदि जनपदों में होता है। कन्नौजी में लोक-साहित्य मिलता है, किन्तु साहित्यिक रचना का अभाव है।

(v) बुन्देली–बुन्देलखण्ड में बोली जाने के कारण इसे बुन्देली कहते हैं। इसका क्षेत्र झांसी, छतरपुर, ग्वालियर, जालौन, भोपाल, सागर आदि जनपदों तक फैला हुआ है। इसमें साहित्यिक रचना का अभाव है, किन्तु समृद्धशाली लोक साहित्य है।

2. गुजराती–भाषा का [illegible] सदी के बाद से मिलता है। टेसिटरी का कहना है कि 1600 ई. तक पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात की भाषा प्राचीन राजस्थानी थी। आधुनिक गुजराती का स्वरूप सत्रहवीं सदी के मध्य से प्रकट हुआ। गुजराती पहले देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी; अब उसकी अपनी लिपि है जो कैथी लिपि से मिलती-जुलती विकृत देवनागरी ही है। यही अब गुजराती लिपि कहलाती है। शिरोरेखा विहीनता इसकी विशेषता है। नागरी, बंबइया, गामडिया, सुरती, काठियावाड़ी इत्यादि गुजराती की प्रमुख बोलिंयाँ हैं। बारहवीं शताब्दी में गुजरात में हुआ था। गुजराती के आदि कवि नरसिंह मेहता आज भी सम्मानीय स्थान है। गुजराती में पर्याप्त साहित्य मिलता है। इसकी लिपि पहले देवनागरी थी, अब देवनागरी से विकसित लिपि गुजराती है।

3. राजस्थानी–यह राजस्थान क्षेत्र या प्रदेश की भाषा है। इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसके अंतर्गत चार प्रमुख बोलियाँ आती हैं–मेवाती, जयपुरी, मारवाड़ी और मालवी।

(i) **मेवाती**–मेव जाति के क्षेत्र मेवाती के नाम पर यह बोली मेवाती कहलाई है। यह अलवर के अतिरिक्त हरियाणा के गुड़गाँव जनपद के कुछ अंश में बोली जाती है। ब्रज-क्षेत्र से लगे होने के कारण इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है। इसमें समृद्ध लोक-साहित्य मिलता है।

(ii) **जयपुरी**–यह राजस्थान के पूर्वी भाग जयपुर, कोटा तथा बूंदी आदि क्षेत्रों में बोली जाती है। इस क्षेत्र को ढूँढाण कहने के आधार पर इसे ढुँढणी की भी संज्ञा दी जाती है। इसमें लोक-साहित्य मिलता है। इसमें दादू पंथियों का पर्याप्त साहित्य मिलता है।

(iii) **मारवाड़ी**–यह पश्चिमी राजस्थान के जोधपुर, अजमेर, जैसलमेर तथा बीकानेर आदि जनपदों में बोली जाती है। पुरानी मारवाड़ी को **'डिंगल'** कहते हैं। इसमें साहित्य तथा लोक-साहित्य दोनों ही रचा गया है। इसके प्रसिद्ध कवि हैं–नरपति नाल्ह और पृथ्वीराज। मध्यकाल में मीराबाई ने इसी भाषा में रचना की थी।

(iv) **मालवी**–राजस्थान के दक्षिणी पर्व में स्थित मालवा क्षेत्र के नाम पर इसे मालवी कहते हैं। इन्दौर, उज्जैन तथा रतलाम आदि जनपद इसके क्षेत्र में आते हैं। इसमें सीमित साहित्य तथा पर्याप्त लो-साहित्य मिलता है। चन्द्र-सखी इसकी प्रसिद्ध कवयित्री है।

4. मराठी–इसका विकास महाराष्ट्री अपभ्रंश से हुआ है। महाराष्ट्र क्षेत्र या प्रदेश के नाम पर ही महाराष्ट्री और नाम पड़ा है। विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने के कारण चार विभिन्न क्षेत्रों में इसके चार रूप उभर आए हैं। मराठी का अपना समृद्ध साहित्य है। नामदेव, ज्ञानेश्वर, रामदास तथा तुकाराम आदि इसके प्रमुख कवि हैं। इसमें पर्याप्त सन्त साहित्य है। इसकी लिपि देवनागरी है।

5. बिहारी–इसका विकास मागधी से हुआ है। बिहारी क्षेत्र या प्रदेश में विकसित होने के कारण इसका नाम बिहारी रखा गया है। यह हिन्दी भाषा का ही रूप है। इसके अन्तर्गत भोजपुरी, मैथिली, मगही तीन प्रमुख बोलियाँ आती हैं।

(i) **भोजपुरी**–जनपदीय क्षेत्र भोजपुर इसका मुख्य केन्द्र होने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। यह बिहार तथा उत्तर प्रदेश के सीमावर्ती जिलों भोजपुर, राँची, सारन, चम्पार, मिर्जापुर, जौनपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती आदि में बोली जाती है। इसमें सीमित साहित्य, किन्तु समृद्ध लोकसाहित्य मिलता है।

(ii) **मैथिली**–जनपदीय क्षेत्र की भाषा होने के आधार पर इसे मैथिली नाम दिया गया है। इसके क्षेत्र में दरभंगा, सहर और मुजफ्फरपुर तथा भागलपुर जनपद आते हैं। इसमें पर्याप्त साहित्य मिलता है। इसे सम्पन्न भाषा मान सकते हैं। इस भाषा का लोक-साहित्य भी अपने सरस रूप के लिए प्रसिद्ध है। मैथिल कोकिल विद्यापति ने इसी भाषा में अपनी अधिकांश कृतियों का सृजन किया है।

(iii) **मगही**–'मागधी' से विकसित होकर मगही शब्द बना है। **'मगध'** क्षेत्र की भाषा होने के आधार पर इसे मागधी या मगही नाम दिया गया है। गया जनपद के अतिरिक्त पटना, भागलपुर, हजारीबाग तथा मुंगेर आदि जनपदांशों में भी यही बोली जाती है।

6. बांग्ला–इसका विकास मागधी अपभ्रंश से हुआ है। बांग्ला इसका क्षेत्र है। गाँव तथा नगर की बांग्ला में भिन्नता है। इसी प्रकार पूर्वी तथा पश्चिमी क्षेत्र की बांग्ला में भी भिन्नता है। पूर्वी बांग्ला का मुख्य केन्द्र ढाका है, जो अब बांग्लादेश में है। हुगली नदी के निकट क्षेत्र की नगरीय बांग्ला ही साहित्यक भाषा बन गई है। परम्परागत तत्सम शब्दों की संख्या सर्वाधिक रूप में बांग्ला में ही मिलती है।

2 हिन्दी भाषा का विकासात्मक स्वरूप

आलोचनात्मक प्रश्न

1. हिन्दी भाषा के विकासात्मक स्वरूप पर प्रकाश डालिए। (Most Imp

अथवा

हिन्दी भाषा के विकास क्रम का संक्षिप्त परिचय देते हुए हिन्दी की उपभाषाओं एवं बोलियों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

हिन्दी की उपभाषाओं एवं बोलियों का परिचय दीजिए तथा भाषा व बोली का अंतर्संबंध बताइए।

उत्तर–हिन्दी भाषा का विकासात्मक स्वरूप–हिन्दी भाषा के विकास क्रम के अध्ययन में हम पढ़ चुके हैं कि हिन्दी भाषा संबंध आधुनिक भारतीय आर्यभाषा से है। प्रथम आर्यभाषा का काल 1500 से 500 ई. पूर्व तक, द्वितीय आर्यभाषा का का 500 ई. पू. से लेकर 1000 ई. तक तथा तीसरी या आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का काल 1000 ई. से अब तक निर्धा किया गया है।

इसी प्रकार हिन्दी भाषा के विकास काल को भी तीन चरणों में विभक्त कर दिया गया है।

(1) 1000–1500 ई.

(2) 1500–1800 ई. तथा

(3) 1800–से अब तक के काल तक

इस प्रकार भाषा का विकास काल क्रमशः आगे बढ़ता गया है। हिन्दी भाषा, जो कभी मात्र कुछ जनपदों की बोली थी आज उसने वृहद् रूप ग्रहण कर लिया है।

हिन्दी भाषा के विकास क्रम को यदि देखा जाए तो कुछ बातें स्पष्ट हैं–

(1) भाषा क्रमशः जटिलता से सरलता की ओर बढ़ी है।

(2) क्रियारूपों से सरलीकरण की प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

(3) हिन्दी भाषा में ग्रहणशीलता की प्रवृत्ति तीव्र होती है। मध्यकाल तक इसने अरबी फ़ारसी के शब्द ग्रहण कर लिए थे तथा आधुनिक काल तक आते-आते इसने पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेजी के शब्द पर्याप्त मात्रा में ग्रहण किए हैं। आज की हिन्दी भाषा तो अंग्रेजी से ज्यादा ही प्रभावित हुई है।

(4) हिन्दी भाषा के बोलने वालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है। एक भाषा के रूप में यह आज विश्व की कुछ प्रमुख भाषाओं में से एक है। बोलने वाले लोगों की संख्या के हिसाब से हिन्दी विश्व की तीसरे नंबर की भाषा है।

(5) हिन्दी भाषा के विकास क्रम की एक विशेषता इसका उन्नत साहित्य भी है। समय और संदर्भानुकूल हिन्दी भाषा ने अपने को युग-परिवेश से जोड़ा है।

हिन्दी की उपभाषाएँ एवं बोलियाँ

हिन्दी की उपभाषाएँ एवं बोलियाँ आज जिसे हम हिन्दी भाषा कहते हैं, उसमें कोई एक भाषा नहीं है, बल्कि इसमें कई प्रदेशों की बोलियाँ सम्मिलित हैं। तो क्या इसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि हिन्दी का अपना कोई क्षेत्र नहीं है? नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। बड़ी/समृद्ध भाषाएँ अपना विस्तार विभिन्न जनपदों व परिवेशों में कर लेती हैं। अतः उनका जनपद विस्तृत हो जाता है। ब्रजभाषा या अवधी भाषा स्वतंत्र भाषाएँ हैं। या सूर, तुलसी हिन्दी के कवि नहीं है......... इस प्रकार के तर्क विभिन्न आलोचकों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। भाषा और बोली के भेद को आधुनिक काल में विशेष रूप से उठाया गया है। हिन्दी के संदर्भ में एक प्रश्न यह भी उठाया गया है कि इसकी परस्पर भिन्नता की स्थिति है। एक ही भाषा की बोलियों में इतना भेद उचित नहीं है। इस प्रकार के प्रश्न को भाषा वैज्ञानिक ढंग से ही समझा जा सकता है, दूसरे हिन्दी भाषा की संस्कृति के आधार पर भी इन प्रश्नों का समाधान किया जा सकता है।

हिन्दी भाषा के प्रसार एवं विस्तार का प्रश्न वैश्विक हो चला है। एशिया के कई देशों में हिन्दी भाषा बोली और समझी जाती है। जबकि सैकड़ों देशों में हिन्दी भाषा का अध्यापन कार्य चल रहा है, इस प्रकार वह सांस्कृतिक संपर्क का कार्य कर रही है।

हिन्दी भाषा के क्षेत्रीय प्रसार को **'हिन्दी भाषी क्षेत्र'** कहा गया है। इसमें दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तराखण्ड, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान इत्यादि प्रदेश आते हैं। इन प्रदेश में बोली जाने वाली बोलियों को मिलाकर हिन्दी भाषी प्रदेश बनता है। यहाँ हम हिन्दी की उपभाषा एवं बोलियों का परिचय प्रस्तुत है—

हिन्दी भाषा			
	उपभाषा		**बोलियाँ**
1.	**पश्चिमी हिन्दी**	**1.**	खड़ी बोली
		2.	बांगरू या हरियाणवी
		3.	ब्रजभाषा
		4.	कन्नौजी
		5.	बुन्देली
2.	**पूर्वी हिन्दी**	**1.**	अवधी
		2.	वघेली
		3.	छत्तीसगढ़ी
3.	**राजस्थानी**	**1.**	मेवाती
		2.	मालवी
		3.	हाड़ौती (जयपुरी)
		4.	मारवाड़ी (मेवाड़ी)
4.	**बिहारी**	**1.**	भोजपुरी
		2.	मगही
		3.	मैथिली
5.	**पहाड़ी**	**1.**	कुमाऊँनी
		2.	गढ़वाली
		3.	नेपाली

हिन्दी की प्रमुख बोलियों का परिचय

हिन्दी भाषा के उपभाषाओं एवं बोलियों का आपने अध्ययन कर लिया है। 5 उपभाषाओं एवं 18 बोलियों में विभक्त हिन्दी भाषा भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि भाषा रही है। अब हम हिन्दी की प्रमुख बोलियों एवं उपभाषाओं का अध्ययन करेंगे।

(क) पश्चिमी हिन्दी–हिन्दी का उप-भाषाओं में से सर्वाधिक प्रमुख उप-भाषा के रूप में पश्चिमी हिन्दी की गणना की जाती है। इस उपभाषा का क्षेत्र दिल्ली, ब्रज, हरियाणा, कन्नौज व बुंदेलखण्ड के क्षेत्रों को अपने में समेटे हुए हैं। खड़ी बोली और ब्रजभाषा के कारण यह हिन्दी का प्रतिनिधि उपभाषा परिवार है। आइए इसकी बोलियों का संक्षेप में परिचय प्राप्त करें–

(1) **खड़ी बोली**–खड़ी बोली का क्षेत्र मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, मुरादाबाद, रामपुर आदि जिले हैं। साहित्य की दृष्टि से खड़ी बोली का साहित्य सर्वाधिक समृद्ध है।

(2) **ब्रज**–ब्रजभूमि में बोली जाने वाली भाषा का नाम ब्रजभाषा है। मथुरा, वृंदावन के आस-पास का क्षेत्र, आगरा, मथुरा, एटा, मैनपुरी, फर्रूखाबाद, बुलंदशहर, बदायूँ आदि जिलों में ब्रजंभाषा बोली जाती है। सूर, अष्टछाप का साहित्य, बिहारी, देव, घनानंद समेत पूरा रीतिकाल, जगन्नाथदास रत्नाकर, हरिऔध जैसे कवियों के साहित्य से ब्रजभाषा समृद्ध है। व्याकरणिक दृष्टि से ओ/औ करांत इसी विशेषता है। गयो, भलो, कहयो इत्यादि शब्द इसके उदाहरण हैं।

(3) **कन्नौजी**–कन्नौजी का क्षेत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश के इटावा, फर्रूखाबाद, शाहजहाँपुर आदि जिले हैं। कानपुर, हरदोई के हिस्से भी कन्नौजी के क्षेत्र हैं। यह ब्रजभाषा और बुन्देली के बीच का क्षेत्र है। खोटो, छोटो, मेरो भयो, बइठो इत्यादि 'ओ' कारान्त भाषा के रूप में कनौजी को देखा जा सकता है।

(4) **बुन्देली**–बुन्देलखण्ड जनपद की बोली को बुन्देली कहा गया है। इस बोली का क्षेत्र झाँसी, जालौन, सागर, होशंगाबाद, भोपाल इत्यादि है।

(5) **बाँगरू (हरियाणवी)**–हरियाणा प्रदेश की बोली को हरियाणवी कहा गया है। यह बोली दिल्ली के कुछ हिस्सों में, करनाल, रोहतक अंबाला आदि जिलों में बोली जाती है। को के लिए ने का प्रयोग हरियाणवी की विशेषता है।

(ख) पूर्वी हिन्दी–पूर्वी हिन्दी में तीन बोलियाँ हैं–अवधी, बघेली एवं छत्तीसगढ़ी। पूर्वी हिन्दी उपभाषा, हिन्दी में विशिष्ट स्थान रखती है, क्योंकि इसमें तुलसीदास व रामचरितमानस जैसी कृतियाँ हैं। आइए पूर्वी हिन्दी की बोलियों से परिचित हों।

(1) **अवधी**–अवध मण्डल की बोली को अवधी कहा गया है। इस भाषा का प्रमुख क्षेत्र लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, फैजाबाद, प्रतापगढ़, इलाहाबाद, फतेहपुर आदि जिले आते हैं। रामभक्ति शाखा का केंद्र अवध मण्डल ही रहा है। इस भाषा में तुलसीदास प्रमुख कवि हैं।

(2) **बघेली**–बघेलखण्ड की बोली को बघेली कहा गया है। बघेली में रीवाँ, जबलपुर, माँडवा, बालाघाट आदि जिले आते हैं। बघेली में लोक साहित्य मिलता है।

(3) **छत्तीसगढ़ी**–छत्तीसगढ़ की बोली छत्तीसगढ़ी कहा गया है। छत्तीसगढ़ के रायपुर, विलासपुर जिले इसके प्रमुख केन्द्र हैं।

(ग) राजस्थानी–राजस्थानी, हिन्दी की प्रमुख उपभाषा है। राजस्थानी उपभाषा में चार बोलियाँ हैं–मारवाड़ी, मेगती, जयपुरी मालवी। रासो साहित्य से लेकर आधुनिक काल तक राजस्थानी साहित्य का हिन्दी पर प्रभाव देखा जा सकता है।

(1) **जयपुरी**–जयपुर केन्द्र होने के कारण इसे जयपुरी कहा गया है। इस बोली को ढूँढाली भी कहते हैं। हाडैती इसकी उपबोली है। जयपुरी बोली के क्षेत्र कोटा, बूँदी के जिले एवं जयपुर हैं।

(2) **मेवाती**–यह राजस्थानी के उत्तर सीमा के अंतर्गत बोली जाती है। इसकी प्रमुख उपबोली अहीरवाटी है। मेवाती अलवर, भरतपुर और गुड़गाँव के जिलों में बोली जाती है।

(3) **मालवी**–दक्षिणी राजस्थान की बोली को मालवी कहा जाता है। मालवी का मुख्य क्षेत्र दक्षिणी राजस्थान के बूँदी, झालावाड़ जिले तथा उत्तरी मध्यप्रदेश के मंदसौर, इंदौर, रतलाम आदि जिले आते हैं। यह बोली गुजराती और पश्चिमी हिन्दी के बीच की है।

(4) **मारवाड़ी**–राजस्थानी की पश्चिमी बोली का नाम मारवाड़ी है। इसका केन्द्र मारवाड़ है। इस बोली का केन्द्र जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, उदयपुर आदि जिले हैं। हिन्दी साहित्य की वीरगाथाएँ मारवाड़ी में ही लिखी गयी थीं। मीरा का काव्य मारवाड़ी में ही रचित है। इस प्रकार राजस्थानी की बोलियों में मारवाड़ी साहित्यिक दृष्टि से सर्वाधिक परिष्कृत है।

हिन्दी की प्रमुख बोलियों का परिचय

हिन्दी भाषा के उपभाषाओं एवं बोलियों का आपने अध्ययन कर लिया है। 5 उपभाषाओं एवं 18 बोलियों में विभक्त हिन्दी भाषा भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि भाषा रही है। अब हम हिन्दी की प्रमुख बोलियों एवं उपभाषाओं का अध्ययन करेंगे।

(क) पश्चिमी हिन्दी–हिन्दी का उप-भाषाओं में से सर्वाधिक प्रमुख उप-भाषा के रूप में पश्चिमी हिन्दी की गणना की जाती है। इस उपभाषा का क्षेत्र दिल्ली, ब्रज, हरियाणा, कन्नौज व बुंदेलखण्ड के क्षेत्रों को अपने में समेटे हुए हैं। खड़ी बोली और ब्रजभाषा के कारण यह हिन्दी का प्रतिनिधि उपभाषा परिवार है। आइए इसकी बोलियों का संक्षेप में परिचय प्राप्त करें–

(1) **खड़ी बोली**–खड़ी बोली का क्षेत्र मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, मुरादाबाद, रामपुर आदि जिले हैं। साहित्य की दृष्टि से खड़ी बोली का साहित्य सर्वाधिक समृद्ध है।

(2) **ब्रज**–ब्रजभूमि में बोली जाने वाली भाषा का नाम ब्रजभाषा है। मथुरा, वृंदावन के आस-पास का क्षेत्र, आगरा, मथुरा, एटा, मैनपुरी, फर्रूखाबाद, बुलंदशहर, बदायूँ आदि जिलों में ब्रजभाषा बोली जाती है। सूर, अष्टछाप का साहित्य, बिहारी, देव, घनानंद समेत पूरा रीतिकाल, जगन्नाथदास रत्नाकर, हरिऔध जैसे कवियों के साहित्य से ब्रजभाषा समृद्ध है। व्याकरणिक दृष्टि से ओ/औ करांत इसी विशेषता है। गयो, भलो, कहयो इत्यादि शब्द इसके उदाहरण हैं।

(3) **कन्नौजी**–कन्नौजी का क्षेत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश के इटावा, फर्रूखाबाद, शाहजहाँपुर आदि जिले हैं। कानपुर, हरदोई के हिस्से भी कन्नौजी के क्षेत्र हैं। यह ब्रजभाषा और बुन्देली के बीच का क्षेत्र है। खोटो, छोटो, मेरो भयो, बइठो इत्यादि 'ओ' कारान्त भाषा के रूप में कनौजी को देखा जा सकता है।

(4) **बुन्देली**–बुन्देलखण्ड जनपद की बोली को बुन्देली कहा गया है। इस बोली का क्षेत्र झाँसी, जालौन, सागर, होशंगाबाद, भोपाल इत्यादि है।

(5) **बाँगरू (हरियाणवी)**–हरियाणा प्रदेश की बोली को हरियाणवी कहा गया है। यह बोली दिल्ली के कुछ हिस्सों में, करनाल, रोहतक अंबाला आदि जिलों में बोली जाती है। को के लिए ने का प्रयोग हरियाणवी की विशेषता है।

(ख) पूर्वी हिन्दी–पूर्वी हिन्दी में तीन बोलियाँ हैं–अवधी, बघेली एवं छत्तीसगढ़ी। पूर्वी हिन्दी उपभाषा, हिन्दी में विशिष्ट स्थान रखती है, क्योंकि इसमें तुलसीदास व रामचरितमानस जैसी कृतियाँ हैं। आइए पूर्वी हिन्दी की बोलियों से परिचित हों।

(1) **अवधी**–अवध मण्डल की बोली को अवधी कहा गया है। इस भाषा का प्रमुख क्षेत्र लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, फैजाबाद, प्रतापगढ़, इलाहाबाद, फतेहपुर आदि जिले आते हैं। रामभक्ति शाखा का केंद्र अवध मण्डल ही रहा है। इस भाषा में तुलसीदास प्रमुख कवि हैं।

(2) **बघेली**–बघेलखण्ड की बोली को बघेली कहा गया है। बघेली में रीवाँ, जबलपुर, माँडवा, बालाघाट आदि जिले आते हैं। बघेली में लोक साहित्य मिलता है।

(3) **छत्तीसगढ़ी**–छत्तीसगढ़ की बोली छत्तीसगढ़ी कहा गया है। छत्तीसगढ़ के रायपुर, विलासपुर जिले इसके प्रमुख केन्द्र हैं।

(ग) राजस्थानी–राजस्थानी, हिन्दी की प्रमुख उपभाषा है। राजस्थानी उपभाषा में चार बोलियाँ हैं–मारवाड़ी, मेगती, जयपुरी एवं मालवी। रासो साहित्य से लेकर आधुनिक काल तक राजस्थानी साहित्य का हिन्दी पर प्रभाव देखा जा सकता है।

(1) **जयपुरी**–जयपुर केन्द्र होने के कारण इसे जयपुरी कहा गया है। इस बोली को ढूँढाली भी कहते हैं। हाड़ैती इसकी उपबोली है। जयपुरी बोली के क्षेत्र कोटा, बूँदी के जिले एवं जयपुर हैं।

(2) **मेवाती**–यह राजस्थानी के उत्तर सीमा के अंतर्गत बोली जाती है। इसकी प्रमुख उपबोली अहीरवाटी है। मेवाती अलवर, भरतपुर और गुड़गाँव के जिलों में बोली जाती है।

(3) **मालवी**–दक्षिणी राजस्थान की बोली को मालवी कहा जाता है। मालवी का मुख्य क्षेत्र दक्षिणी राजस्थान के बूँदी, झालावाड़ जिले तथा उत्तरी मध्यप्रदेश के मंदसौर, इंदौर, रतलाम आदि जिले आते हैं। यह बोली गुजराती और पश्चिमी हिन्दी के बीच की है।

(4) **मारवाड़ी**–राजस्थानी की पश्चिमी बोली का नाम मारवाड़ी है। इसका केन्द्र मारवाड़ है। इस बोली का केन्द्र जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, उदयपुर आदि जिले हैं। हिन्दी साहित्य की वीरगाथाएँ मारवाड़ी में ही लिखी गयी थीं। मीरा का काव्य मारवाड़ी में ही रचित है। इस प्रकार राजस्थानी की बोलियों में मारवाड़ी साहित्यिक दृष्टि से सर्वाधिक परिष्कृत है।

(घ) बिहारी–इस उपभाषा का केन्द्र बिहार होने के कारण इसका नाम बिहारी पड़ा है। बिहारी उपभाषा में तीन बोलियाँ –भोजपुरी, मगही एवं मैथिली।

(1) भोजपुरी–भोजपुरी, बिहारी की सर्वाधिक बोली जाने वाली बोली है। बिहार का भोजपुर जिला इस बोली का केन्द्र है। इस बोली के प्रमुख क्षेत्रों में–बलिया, बस्ती, गोरखपुर, आजमगढ़, गाजीपुर, जौनपुर, वाराणसी, मिर्जापुर, सोनभद्र, चंपारन, सहारन, भोजपुर, पालामऊ आदि आते हैं। इस प्रकार इस बोली का केन्द्र मुख्य रूप से बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश है। भोजपुरी भाषा में पर्याप्त लोक साहित्य मिलता है। कबीर जैसे बड़े कवि के ऊपर भी भोजपुरी का प्रभाव है। आज भोजपुरी फिल्मों ने इस बोली को राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय प्रसिद्धि दी है। भोजपुरी विदेशों में–मारीशस, सूरीनाम में भी प्रचलित व लोकप्रिय है।

(2) मगही–मगध प्रदेश की भाषा होने के कारण इसका नाम मागधी पड़ा है। यह बोली मुख्य रूप से बिहार के पटना, गया आदि जिलों में बोली जाती है।

(3) मैथिली–मिथिला प्रदेश की भाषा होने के कारण इस भाषा का नाम मैथिली है। यह बोली प्रमुख रूप से उत्तरी बिहार एवं पूर्वी बिहार के चंपारन, मुजफ्फरपुर, मुंगेर, भागलपुर, दरभंगा, पूर्णिया आदि जिलों में बोली जाती है। मैथिली हिन्दी की भाषा है या नहीं? इस प्रश्न को लेकर मतैक्य नहीं है। वैसे परम्परागत रूप से मैथिली को हिन्दी भाषा की बोली के रूप में ही स्वीकृति मिली हुई है। साहित्यिक दृष्टि से मैथिली, बिहारी उपभाषा की बोलियों में सर्वाधिक संपन्न है। मैथिल कोकिल विद्यापति तो हिन्दी भाषा के गौरव हैं ही। आधुनिक कवियों में नागार्जुन जैसे समर्थ मैथिक भाषा की मिट्टी से ही उपजे हैं।

(च) पहाड़ी उपभाषा–इस उपभाषा के संबंध पहाड़ी अंचल की बोलियों से जुड़ा हुआ है, इसलिए इसे पहाड़ी नाम दिया गया है। हिन्दी भाषा के पहाड़ी अंचल में उत्तराखण्ड व हिमाचल प्रदेश का क्षेत्र आता है। ग्रियर्सन ने नेपाली को भी पहाड़ी के अंतर्गत माना था। इस उपभाषा के दो भाग किए गए हैं–पश्चिमी और मध्यवर्ती। पश्चिमी पहाड़ी में जौनसारी, चमोली, भद्रवाही आदि बोलियाँ आती है और मध्यवर्ती पहाड़ी में कुमाऊँनी एवं गढ़वाली।

(1) कुमाऊँनी–कुमाऊँ खण्ड में जाने का कारण इस बोली का नाम कुमाऊँ पड़ा है। उत्तराखण्ड के उत्तरी सीमा/क्षेत्र इसका केन्द्र है। यह बोली उत्तराखण्ड के उत्तरकाशी, नैनीताल, अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, चम्पावत आदि जिलों में बोली जाती है। कुमाऊँ बोली में समृद्ध साहित्य मिलता है। कुमाऊँ ने हिन्दी साहित्य को सुमित्रानंदन पंत, शेखर जोशी, मनोहरश्याम जोशी, इलाचन्द्र जोशी जैसे बड़े साहित्यकार दिए हैं।

(2) गढ़वाली–उत्तराखण्ड के गढ़वाल खण्ड की बोली होने के कारण इसका नाम गढ़वाली पड़ा है। यह बोली प्रमुख रूप से उत्तरकाशी, टेहरी गढ़वाल, पौड़ी गढ़वाल, दक्षिणी नैनीताल, तराई देहरादून, सहारनपुर, बिजनौर जिलों में बोली जाती है। गढ़वाली में समृद्ध लोक साहित्य मिलता है। गढ़वाली की उपभाषाओं में राठी, श्रीनगररिया आदि हैं। गढ़वाल मंडल ने हिन्दी साहित्य को पीताम्बर दत्त बर्थवाला, वीरेन डंगवाल और मंगलेश डवराल जैसे ख्यातिनाम साहित्यकार दिए हैं।

(3) नेपाली–नेपाल तथा भारत में नेपाली सीमा पर बोली जाने वाली भाषा नेपाली कहलाती है।

भाषा और बोली का अंतर्सम्बन्ध–किसी भी समृद्ध भाषा की बोलियाँ और उप-बोलियाँ होती है। हिन्दी के संदर्भ में यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि इसके विभिन्न रूप, क्षेत्रीय विभेद को बढ़ावा देते हैं। जबकि यही प्रश्न लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच, रूसी के संदर्भ नहीं उठाया जाता। जाहिर है, इस प्रश्न के मूल में राजनीति ज्यादा होती है, यथार्थ कम। किसी भी समृद्ध भाषा का विस्तार भौगोलिक एवं साहित्यक दृष्टि से बहुत ज्यादा होता है, इसलिए एक बोली से दूसरी बोली में सम्प्रेषणीयता की समस्या खड़ी हो जाती है। बोली (1) और बोली (18) में इतना भौगोलिक अंतर होता है, कि उनके बीच सम्प्रेषण की समस्या उठना स्वाभाविक ही है। भाषा और बोली के अंतर्सम्बन्ध का एक प्रश्न राजनीतिक और साहित्यिक भी है। एक ही बोली राजनीतिक-साहित्यिक कारणों से कभी बोली बन जाती है और कभी भाषा। इस संदर्भ में भाषा वैज्ञानिकों ने लक्षित किया है कि खड़ीबोली जो कभी कुछ-एक जनपदों में बोली जाने वाली बोली भी, राजनीतिक-साहित्यिक कारणों से भाषा का रूप ले लेती है। और केवल भाषा ही नहीं बनती बल्कि एक संस्कृति बन जाती है। इसी प्रकार मध्यकाल की ब्रजभाषा एवं अवधी भाषाएँ क्रमशः बोलियों का रूप ले लेती हैं। इस प्रकार भाषा और बोलियों के अंतर्सम्बन्ध को कई रूपों में समझा जा सकता है।

◆◆◆

2.1 हिन्दी की उपभाषाएँ

(क) पूर्वी हिन्दी और उसकी बोलियाँ

(Most Imp.)

1. पूर्वी हिन्दी एवं उसकी विभिन्न बोलियों का परिचय दीजिए।

अथवा

पूर्वी हिन्दी के अंतर्गत आने वाली बोलियों की विवेचना कीजिए।

उत्तर–पूर्वी हिन्दी एवं उसकी बोलियाँ–हिंदी की प्रमुख उपभाषा के रूप में पूर्वी हिंदी का विशेष महत्त्व है। पूर्वी हिंदी अर्धमागधी अपभ्रंश से विकसित है। अतः इसकी निकटता मागधी से विकसित होने वाली बिहारी भाषाओं से अधिक है। यह क्षेत्र प्राचीनकाल में उत्तर कौशल एवं दक्षिण कौशल से सम्बंधित था।

पूर्वी हिंदी का क्षेत्र कानपुर से मिर्जापुर तक, लखीमपुर खीरी से दुर्ग मस्तक तक का विशाल क्षेत्र आता है। पूर्वी हिंदी की विशेषताएं इस प्रकार हैं–

(i) पूर्वी हिंदी में 'ण' के स्थान पर 'न' का उच्चारण होता है–जैसे बाण–बान, रण–रन, क्षण–क्षन।

(ii) 'श', 'ष' के लिए स का उच्चारण होता है।

(iii) 'ल' के लिए 'र' का उच्चारण होता है।

(iv) य तथा व के लिए ज, ए तथा ब, उ का उच्चारण होता है।

(v) अ का उच्चारण आँ के रूप में होता है।

(vi) ऐ और औ का उच्चारण संयुक्त स्वर अइ, अउ के रूप में होता है जैसे अउर।

पूर्वी हिंदी के अंतर्गत आने वाली तीन प्रमुख बोलियाँ हैं–

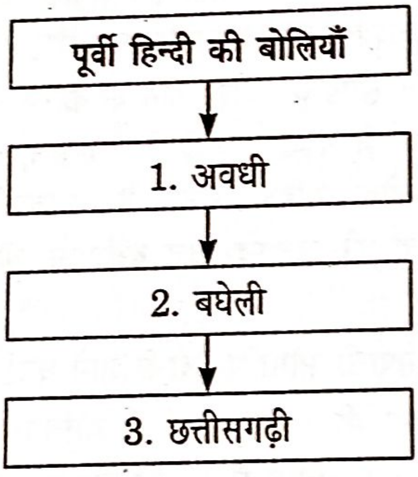

पूर्वी हिंदी की बोलियों का विवरण इस प्रकार है–

(क) अवधी–यह पूर्वी हिंदी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बोली है। अवध की भाषा होने के कारण इसका नाम अवधी पड़ गया। डॉ. ग्रियर्सन और भोलनाथ तिवारी ने इसका सम्बंध अर्ध मागधी से जोड़ा है। इस भाषा में समृद्ध साहित्य रचा गया। जायसी आदि सूफी कवियों ने ठेठ अवधी में साहित्य की रचना की। 'पद्मावत' ठेठ अवधी का लोकप्रिय महाकाव्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने साहित्यिक अवधी में 'रामचरितमानस' की रचना की। अवधी में लोक साहित्य भी काफी उपलब्ध हो जाता है। इसकी मुख्य लिपि देवनागरी है। डॉ. बाबू राव सक्सेना ने अवधी की तीन विभाषाओं का उल्लेख किया है–

1. पश्चिमी अवधी–खीरी, सीतापुर, उन्नाव तथा फतेहपुर की अवधी।
2. केंद्रीय अवधी–बहराइच, बाराहबंकी तथा रायबरेली की अवधी।

3. पूर्वी अवधी—गौंडा, फैजाबाद, सुल्तानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर तथा मिर्जापुर की अवधी। समग्रता, लखीमपुर, खीरी, बहराइच, गौंडा, बाराहबंकी, लखनऊ, सीतापुर, उन्नाव, फैजाबाद, सुल्तानपुर, रायबरेली का क्षेत्र, जौनपुर, मिर्जापुर का पश्चिमी भाग, फतेहपुर तथा इलाहाबाद आदि क्षेत्रों में इस भाषा का प्रयोग होता है।

4. अवधी में परसर्गों का प्रयोग इस प्रकार होता है— **कर्ता परसर्ग** रहित सविभक्तिक या निविभक्तिक रहता है। कर्म—क, का, कां तथा कहुँ, करण—अपादान—सड़ं, सौं, तें, सेति, हुँत, **सम्प्रदान**—बरे, बदे, **सम्बंध**—के, कर, केर, क, कों, **अधिकरण**—में, म, पर, महुँ, मंह, मांहा, मांझ आदि।

अवधी भाषा का एक उदाहरण—

पद्मावत (ठेठ अवधी)

''मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा
तन चित्तउर मनराजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनी चीन्हा
गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनिया-धंधा। बांचा सोइ जा न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई शैतानू। माया अलाउदीन सुलतान।।
प्रेमकथा यहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहू जो बूझै पारहु।''

1. ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—अवधी की ध्वन्यात्मक विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(i) हिंदी की सभी स्वर—ध्वनियाँ अवधी में हैं। अवधी में 'ए' और 'ओ' का ह्रस्व रूप भी प्राप्त होता है। किंतु खड़ी बोली में प्राप्त नहीं होता। जैसे—केहि सोहाति, एतना कहत।

(ii) अवधी में ऐ, औ को अइ, अउ लिखा तथा बोला जाता है। जैसे—जइसे, अउइत, सराहइ आदि।

(iii) अवधी में य, व श्रुतियाँ नहीं मिलतीं। जैसे—करिअ, जिआवत, छुअत।

(iv) अवधी में ण, ङ, य, व के स्थान पर क्रमशः न, र, ज, ब ध्वनियाँ मिलती हैं। जैसे—थोरे, जोरि, प्रान, मनि, जुग, सुजस, विकास आदि।

2. व्याकरणिक विशेषताएँ—अवधी की व्याकरणिक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) अवधी में एकवचन को बहुवचन में बदलने के लिए ए प्रत्यय का प्रयोग होता है। तिर्यक रूप एकवचन में हि और इ प्रत्यय प्रयोग होते हैं और बहुवचन में न, न्ह, नि, न्हि आदि प्रत्यय लगते हैं।

(ii) अवधी में सहायक क्रिया के वर्तमानकालिक रूप में—अटि, बाटे, है अहै का, भूतकालिक रूप में भए, रहे का और भविष्यकालिक रूप में—बूँ, ब, बे, बो प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

(iii) अवधी में पुल्लिग में स्त्रीलिंग बनाने के लिए नि, इनि और आइनि प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

(iv) अवधी में पूर्वकालिक क्रिया में के कै का प्रयोग, मूल क्रिया के साथ क्रियार्थक संज्ञा में ब का प्रयोग मूल धातु के साथ तथा प्रेरणार्थक क्रिया सिद्धि के लिए 'आव' का प्रयोग होता है। जैसे—देख के, देखब, दिखावहि। अवध क्षेत्र में उच्चकोटि के कलाकार रहते थे। बीरबल जैसा प्रतिभाशाली राजा भी यहीं का था तथा नरहरि जैसे सिद्ध कवियों ने इसी क्षेत्र में साधना की थी। स्वयं रीवां नरेश गुण-ग्राहक होने के साथ-साथ उच्चकोटि के कलाकार भी थे। बघेली में ललित साहित्य का सृजन इसलिए नहीं हो सका, क्योंकि सभी ने अवधी को ही साहित्यिक भाषा के रूप में अपना लिया था।

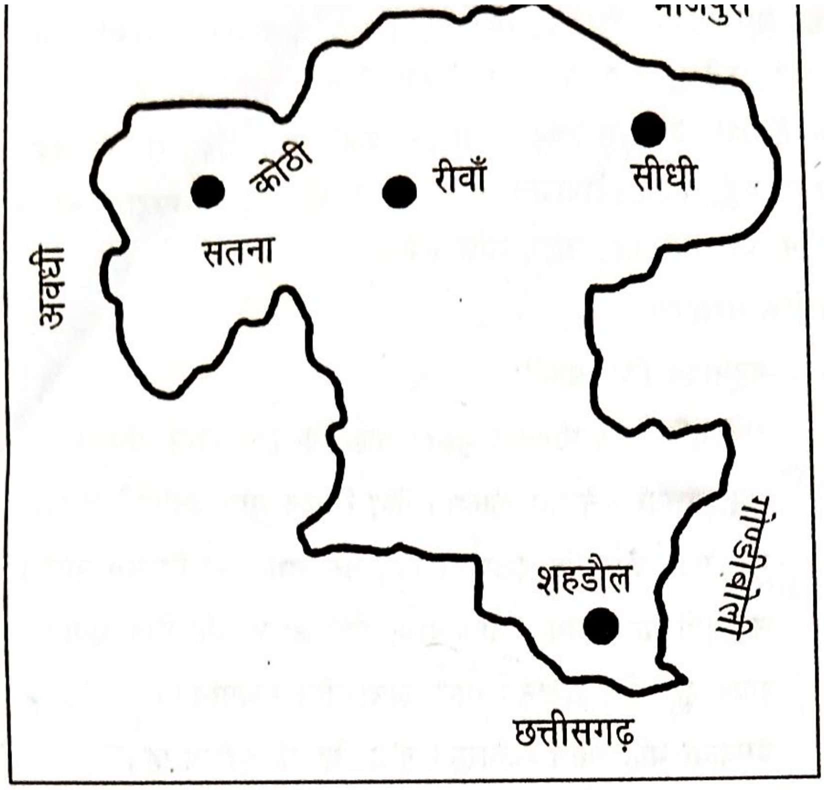

(ख) बघेली–यह विभाषा बघेल खंड में बोली जाती है। इसलिए इसका नाम बघेली या बघेलखंडी पड़ गया। अधिकांश विद्वान भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इसे अलग बोली न मानकर अवधी में ही इसकी गणना करते हैं। विद्वानों का विचार है कि यह दक्षिणी उपशाखा है तथा इसका क्षेत्र बघेलखंड तक सीमित है। बघेलखंड का केंद्र रीवां राज्य स्वीकार किया गया है। इस बोली का अधिकतर प्रयोग दमोह, जबलपुर, मंडला तथा बालाघाट आदि क्षेत्रों में होता है। फतेहपुर, हमीरपुर, बांदा आदि में बुन्देली के मिश्रित रूप का अधिक प्रयोग होता है। बघेली की दो प्रकार की बोलियाँ हैं–

(क) शुद्ध बघेली, जिसका प्रयोग संपूर्ण बघेलखंड में होता है।

(ख) मिश्रित बघेली, यह समीपस्थ बोलियों के मिश्रण के कारण सीमान्तक क्षेत्रों में बोली जाती है।

इसके बोलने वालों की संख्या आज 75 लाख के लगभग है। बघेली में ललित साहित्य न के बराबर है। मध्यकाल में रीवां में संगीत सम्राट तानसेन जैसे व्यक्ति पैदा हुए हैं।

1. ध्वन्यात्मक विशेषताएँ–बघेली की ध्वन्यात्मक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(i) अवधि में 'ब' का 'व' उच्चारण तो किया जाता है, किंतु 'ब' उच्चारण भी अनेक स्थानों पर मिलता है परंतु बघेली में इस ध्वनि की सुरक्षा नहीं पाई जाती। जैसे पावा, पाबा, आवा, आबा आदि।

(ii) बघेली में उ, ओ, इ, ए स्वरों को 'या', 'वा' आदेश हो जाते हैं। जैसे–खेत, ख्यात, जेहि, ज्याहि, घोड़ा, त्वारे आदि। शेष ध्वनियाँ अवधी के समान ही हैं।

2. व्याकरणात्मक विशेषताएँ–बघेली की व्याकरणात्मक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(i) बघेली में संज्ञा के रूप अवधी के समान हैं। जैसे– (मूल), हवाड़, हवाड़े, (तिर्यक) हवाड, हवाड़न।

(ii) बघेली में कर्ता कारक चिह्न 'न' का अभाव है। का, कहा, से, तर, कर आदि कारक चिह्नों का प्रयोग होता है।

(iii) बघेली में सर्वनामों के एकवचन में मय, म्वहि, ग्वाह तथा बहुवचन में हम्हारे, हम्हार आदि रूप मिलते हैं।

(iv) बघेली में सहायक क्रिया वर्तमान में एकवचन है, 'हूँ', बहुवचन 'अहेन', भूतकाल में एकवचन 'रहा', रहेऊँ, बहुवचन रहेन, भविष्यकाल में एकवचन 'होई', 'होत्येंउ', बहुवचन 'होई' हैं, 'होव' रूप होते हैं। इसके अतिरिक्त भूतकाल में क्रिया रूपों में एकवचन में 'रहा' और बहुवचन में 'होते' प्रत्यय लगते हैं।

(ग) **छत्तीसगढ़ी**–मध्यप्रदेश में स्थित छत्तीसगढ़ प्रांत की बोली को छत्तीसगढ़ी नाम दिया गया है। छत्तीसगढ़ नाम एक हजार ोलह से प्रचलित है। कुछ लोगों के विचार के अनुसार इसका नाम चण्दीश गढ़ था। लेकिन बाद में यह छत्तीसगढ़ बन गया है। सके अन्य नामों में लड़िया तथा खरटाई भी है। इस भाषा को बोलने वालों की संख्या लगभग एक करोड़ है। इसके भौगोलिक ेत्र में सरगूजा कांकेर, नांदगांव, खेरागढ़ तथा रामगढ़ आते हैं। रायपुर और दुर्ग का क्षेत्र भी छत्तीसगढ़ में है। यह अपने आसपास ी भोजपुरी, मगही, उड़िया, मराठी तथा बघेली आदि बोलियों से प्रभावित है। वस्तुतः यह क्षेत्र वनजातीय क्षेत्र है। अतः इसमें ोकसाहित्य उपलब्ध होता है। इसमें व्याकरण ग्रंथ भी उपलब्ध है। परंतु छत्तीसगढ़ी की अन्य कोई बोली नहीं है। इसकी ध्वनि म्बंधी तथा व्याकरण सम्बंधी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जो इसे अन्य बोलियों से अलग करती हैं।

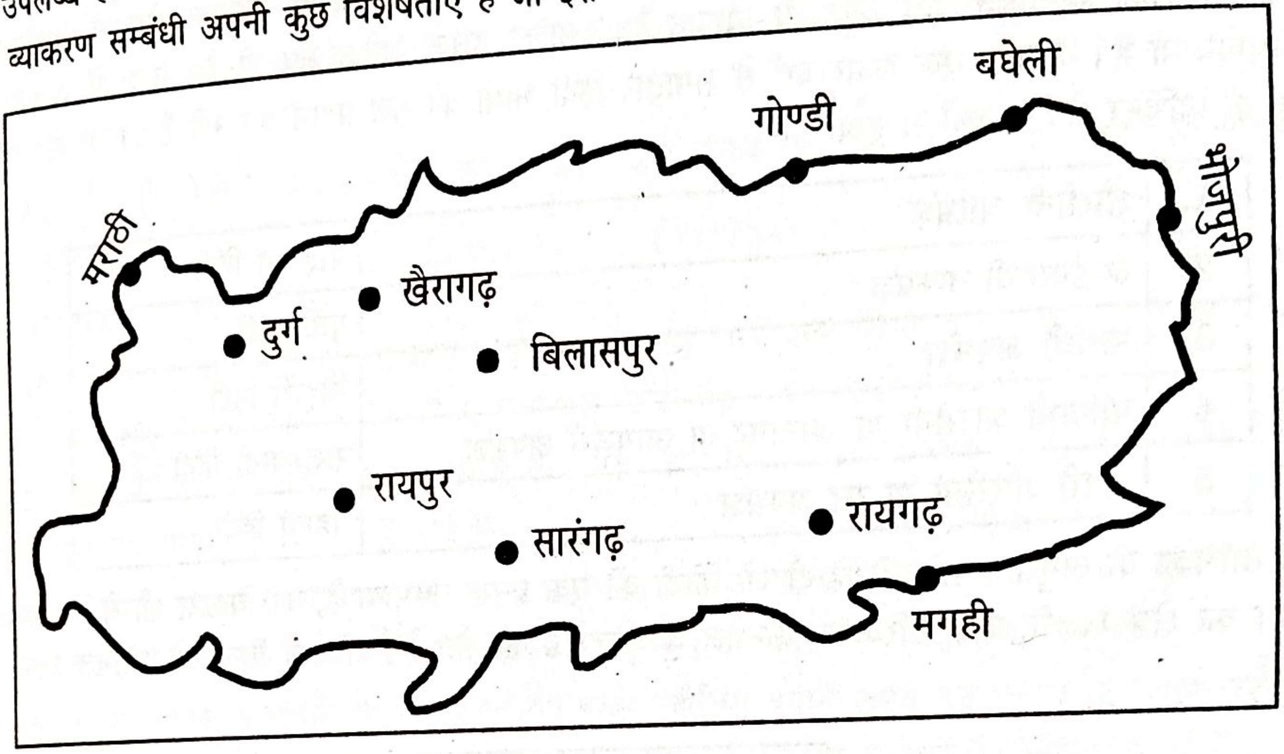

1. **ध्वन्यात्मक विशेषताएँ**–छत्तीसगढ़ी की ध्वन्यात्मक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–
   - (i) छत्तीसगढ़ी बोली में संज्ञा तथा सर्वनाम में प्रयुक्त होने वाले 'ऐ' और 'औ' अइ, अउ रूप मिलते हैं। जैसे–बैल–बइल, जौन–जउन आदि।
   - (ii) छत्तीसगढ़ी में 'स' व्यंजन स्थान 'छ' व्यंजन का प्रयोग होता है। जैसे–सीता–छीता, सात–छात।
   - (iii) इस बोली में 4 शब्द के बीच में ङ ध्वनि लुप्त हो जाती है। जैसे–लड़का–लइका।
   - (iv) इस बोली में अल्पप्राण ध्वनियों महाप्राण ध्वनियाँ बन गई हैं। जैसे–जन–झन, कचहरी–कछेरी।
2. **व्याकरणिक विशेषताएँ**–छत्तीसगढ़ी की व्याकरणिक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–
   - (i) उत्तम पुरुष सर्वनाम एकवचन में 'मैं' के स्थान पर 'मोर' शब्द उपलब्ध होता है।
   - (ii) परसर्गों के प्रयोग इस प्रकार हैं। कर्ता–शून्य, **संप्रदान**–का, ला, वर, **करण तथा अपादान**–ले, से, **सम्बंध**–के, **अधिकरण**–में, माँ
   - (iii) इस बोली में एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए प्राचीन रूपों में अनप्रत्ययों का प्रयोग होता है और आधुनिक रूप में मन प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसे लड़िकाअन, लड़िकामन।
   - (iv) इस बोली में क्रियाओं में काफी अंतर देखा जा सकता है।

     वर्तमानकाल–एकवचन हूँ, का उ, पु, ए, व, ध्वउं, म, पु, हव, प्र, पु, हवै

     वर्तमानकाल बहुवचन–हूँ का हवन, हवै आदि।

     भूतकाल एकवचन–रेहेउं, रह्यौ, रहै आदि

     भूतकाल बहुवचन–रहेन, रहेय आदि।

(ख) पश्चिमी हिन्दी और उसकी बोलियाँ

2. पश्चिमी हिन्दी एवं उसकी विभिन्न बोलियों का परिचय दीजिए। **(Imp.)**

अथवा

पश्चिमी हिन्दी के अंतर्गत आने वाली बोलियों की विवेचना कीजिए।

उत्तर–पश्चिमी हिन्दी एवं उसकी बोलियाँ–हिंदी न केवल प्राचीन भाषा है, बल्कि व्यापक क्षेत्र में बोली जाने वाली महत्त्वपूर्ण भाषा है जिसका भौगोलिक क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। इसलिए इसके अनेक रूप भी हैं। हिंदी में अनेक उपभाषाएँ, बोलियाँ तथा उपबोलियाँ हैं। ये सभी एक हजार वर्ष से लगातार हिंदी भाषा को बल प्रदान कर रही हैं। हिंदी के सभी रूपों का विकास अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों से हुआ है–

1.	शौरसेनी अपभ्रंश	पश्चिमी हिंदी
2.	अर्द्धमागधी अपभ्रंश	पूर्वी हिंदी
3.	मागधी अपभ्रंश	बिहारी हिंदी
4.	पश्चिमी शौरसेनी या उपनागर या उपगुर्जरी अपभ्रंश	राजस्थानी हिंदी
5.	उत्तरी शौरसेनी या रस अपभ्रंश	पहाड़ी हिंदी

उपर्युक्त तालिका के अनुसार पश्चिमी हिन्दी जो हिन्दी की एक प्रमुख उपभाषा है, का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इस उपभाषा का क्षेत्र दिल्ली, ब्रज, हरियाणा, कन्नौज व बुंदेलखंड का क्षेत्र है। पश्चिमी हिन्दी के अंतर्गत आने वाली पाँच प्रमुख बोलियाँ हैं–

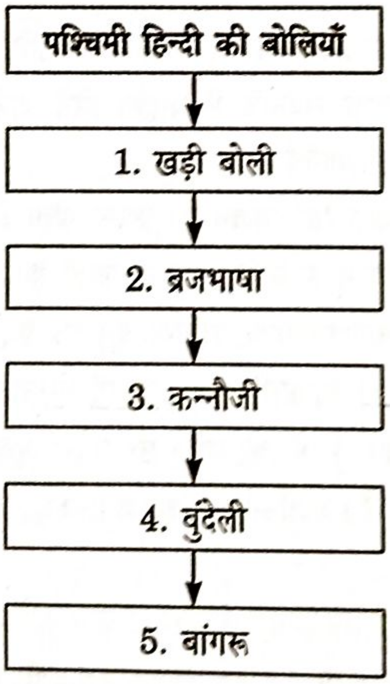

1. खड़ी बोली–खड़ी बोली पश्चिमी हिंदी की सर्वाधिक प्रमुख उपभाषा है। इसका दूसरा नाम कौरवी भी है। इसके नामकरण को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। विद्वानों के एक वर्ग का कथन है कि आकारान्त प्रदान होने के कारण इसका नाम खड़ी बोली पड़ा। अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें अरबी, फारसी, विदेशी शब्दों का प्रयोग नहीं होता। खरी/शुद्ध बोली कहा गया, जोकि बाद में खड़ी बोली कही गई। कान्ता प्रसाद गुरु का कथन है कि खड़ी का अर्थ कर्कश अथवा कठोर है और यह बोली ब्रजभाषा के समान मधुर नहीं है। इसलिए इसे खड़ी बोली कहा गया। आज यह खड़ी बोली साहित्यिक हिंदी भाषा का रूप धारण कर चुकी है। फिर भी लोग इसे खड़ी बोली कहते हैं। यह उत्तर प्रदेश के मेरठ, मुज्जफरनगर, सहारनपुर, मुरादाबाद, बरेली, उत्तराखंड के देहरादून, दिल्ली तथा हरियाणा के कुछ क्षेत्रों में बोली जाती है। आज खड़ी बोली का मानक रूप में राजभाषा तथा

संपर्क भाषा के रूप में स्वीकृत है। आधुनिक युग में इसमें प्रचुर मात्रा में साहित्य की रचना हो चुकी है। साहित्य की दृष्टि से खड़ी बोली के रूप हैं—हिन्दी और उर्दू।

(क) हिन्दी—हिन्दी खड़ी बोली का साहित्यिक रूप है तथा इसमें संस्कृत के शब्दों की बहुलता है। इसमें तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग होता है। साहित्यकार केवल इसमें प्रचलित विदेशज शब्दों का ही प्रयोग करते हैं। मैथिलीशरण गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रा नंदन पंत, निराला, महादेवी वर्मा आदि ने इसी साहित्यिक हिंदी में रचनाएं लिखी हैं।

(ख) उर्दू—उर्दू खड़ी बोली का अन्य साहित्यिक रूप है। इसमें संस्कृत के शब्दों का कम प्रयोग होता है और बोलचाल के शब्दों के साथ-साथ अरबी, फारसी के शब्दों का अधिक प्रयोग होता है। प्रेमचंद, भीष्म साहनी आदि जैसे साहित्यकारों ने इसमें रचनाएं लिखीं।

वस्तुतः हिंदी और उर्दू खड़ी बोली के रूप हैं। दोनों की व्याकरण और वाक्य रचना में समानता है। केवल शब्दावली का ही अंतर है।

खड़ी बोली की विशेषताएँ –

(i) इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि यह आकारान्त प्रदान है अर्थात् इसमें शब्द के अन्त में 'आ' की मात्रा 'ा' आती है। जैसे रोना-धोना, भागना, सोना, खाना-पीना, भला-बुरा, छोटा-बड़ा, खरा-खोटा आदि।

(ii) इसमें 'ऐ' और 'औ' को 'ए' और 'ओ' के रूप में उच्चारित किया जाता है। जैसे—बैठ—बेठ, और—ओर, पैर—पेर का उच्चारण किया जाता है।

(iii) इस भाषा में 'न' के स्थान पर 'ण' तथा 'ल' के स्थान पर 'त' का उच्चारण किया जाता है। जैसे—खाना के स्थान पर खाणा। इससे स्पष्ट है कि शब्दों का आरंभिक ह्रस्व स्वर लुप्त हो जाता है—इकट्ठा का कट्ठा।

(iv) खड़ी बोली में कुछ व्याकरण संबंधी भी विशेषताएं हैं। इसमें स्त्रीलिंग बनाते समय इन प्रत्यय के स्थान पर 'अन' प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसे—मालन (मालिन), सुनारन (सुनारिन), लुहारन (लुहारिन)।

(v) इसमें क्रिया रूप का उच्चारण 'है' या 'सै' से होता है। इसी प्रकार पूर्वकालिक क्रिया में 'कर' के स्थान पर 'के' का प्रयोग होता है। जैसे—

(क) खाना खाकर आ जाना।

(ख) खाना खा के आ जाना।

खड़ी बोली राष्ट्रीय आंदोलन की प्रमुख भाषा है। आज व्यापक स्तर पर इसका प्रचार-प्रसार हो रहा है। यह देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। इसके लिए एक राष्ट्रीय आंदोलन चलाया गया। यही कारण है कि स्वतंत्रत प्राप्ति के बाद इसमें असंख्य नवीन शब्दों का निर्माण किया गया। यही कारण है कि आज यह हमारे देश की राजभाषा और राष्ट्रभाषा है। साहित्य की दृष्टि से यह संपन्न भाषा कही जाती है।

2. ब्रजभाषा—पश्चिमी हिंदी की बोलियों में खड़ी बोली के बाद ब्रजभाषा का दूसरा स्थान आता है। इसका उद्भव लगभग 1000 ई. के आसपास माना जाता है। इस भाषा के प्रमुख केंद्र मथुरा, आगरा, अलीगढ़, धौलपुर, एटा, बदायूँ, बरेली आदि के आस-पास के क्षेत्र आते हैं। इसके अतिरिक्त हरियाणा के पलवल के आस-पास का क्षेत्र, राजस्थान के भरतपुर, धौलपुर आदि जिलों का कुछ भाग तथा मध्य प्रदेश के ग्वालियर जिले का पश्चिमी भाग भी ब्रजभाषा के क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। वस्तुतः ब्रज शब्द का प्रयोग वेदों में पशुओं या 'गौओं का समूह', 'चरागाह' या 'बाड़े' के रूप में हुआ है। इस क्षेत्र में पशुपालन के व्यवसाय का प्राधान्य होने के कारण ही यह प्रदेश ब्रज कहलाया और यहाँ की भाषा ब्रजभाषा कहलाई। यद्यपि डॉ. ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'लिंग्विस्टिक सर्वे' में इसे 'अन्तर्वेदी भाषा' का भी नाम दिया है जो कि गंगा एवं यमुना के बीच के क्षेत्र की भाषा की द्योतक है।

भाषा में श्रेष्ठ काव्य रचना की है। आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी ब्रजभाषा में काव्य रचना की। आधुनिक ब्रजभाषा में विदेश शब्दों का भी प्रयोग होने लगा है।

ब्रजभाषा का क्षेत्र–

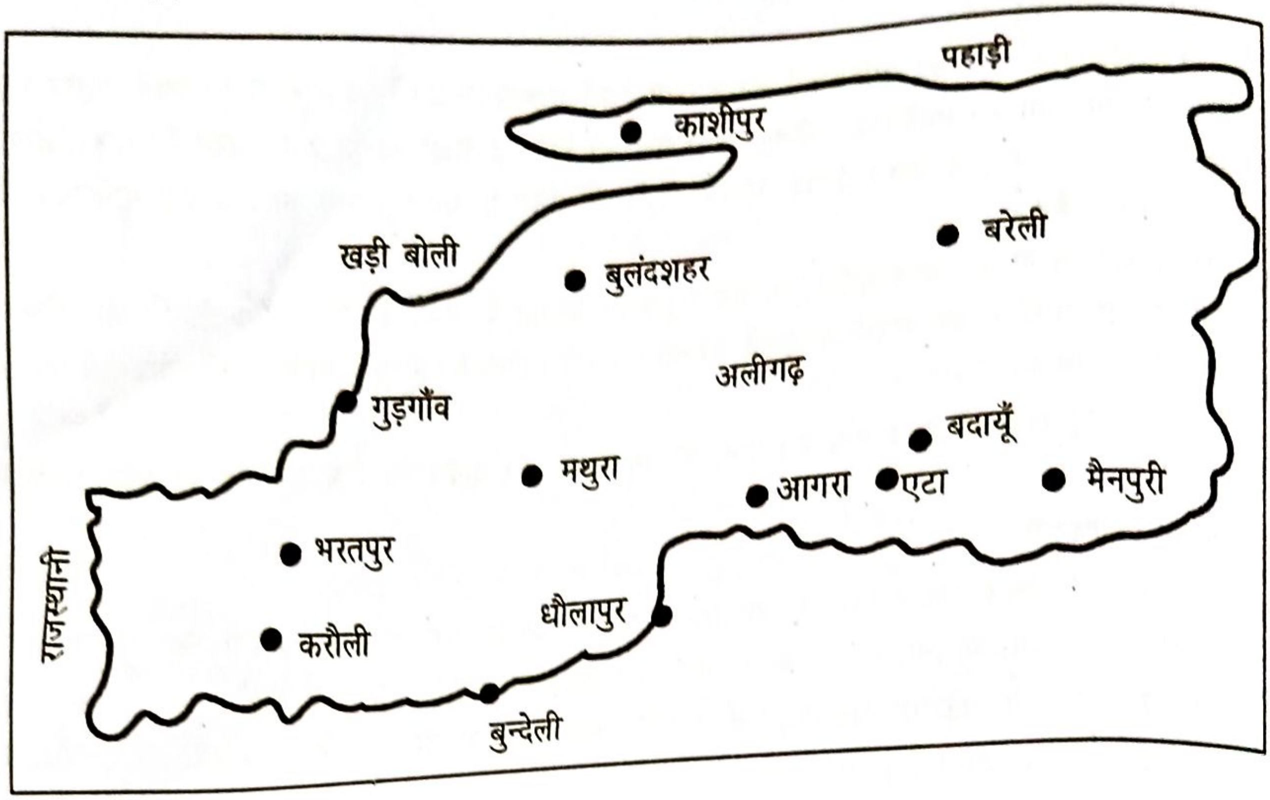

विशेषताएँ–

(i) ब्रजभाषा एक मधुर भाषा है इसमें ट, ठ, ढ आदि कठोर ध्वनियों का प्रयोग न होकर 'र' ध्वनि का अधिक प्रयोग किया जाता है। जैसे–घड़ी का घरी, उलझन का ऊर्जत, भोली का भोरी।

(ii) ब्रजभाषा में अन्य स्वर ध्वनियों के साथ 'ऐ' और 'ओ' ध्वनियाँ भी मिलती हैं–जाबहि, लैखहि, लड़कू, छौरो।

(iii) न, ब, र, ल का महाप्राण रूप भी उचित होता है।

(iv) स्, ष्, श् में से केवल 'स्' व्यंजन ही मिलता है।

(v) ब्रज भाषा के 33 व्यंजनों में से 'न्ह', 'म्ह', 'रह', तथा 'ल्ह' ध्वनियाँ भी मिलती हैं।

(vi) ब्रज भाषा में 'ऋ' के स्थान पर 'इर' का अथवा 'रि' का उच्चारण किया जाता है।

(vii) ए, ओ के ह्रस्व रूप का प्रयोग भी होता है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि ब्रज भाषा का उद्‌भव सन् 1000 ई. के आस–पास माना जाता है। इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसके विकास को मुख्यतः तीन भागों में बांटा जा सकता है– आरम्भिक काल (सन् 1000 से सन् 1500 ई. तक, मध्य काल (सन् 1500 ई. से सन् 1800 ई.) तक था व आधुनिक काल (सन् 1800 ई. से आज तक)। आरंभिक काल की ब्रज भाषा में हेमचंद्र ने अपना व्याकरण 'शब्दानुशासन' की रचना की है। मध्यकाल की ब्रज भाषा में सूरदास, नंददास, केशव, बिहारी, भूषण, घनानंद आदि कवियों ने अपनी काव्य रचना की है। लल्लु लाल जी, भारतेन्दु, रत्नाकर आदि कवियों की काव्य-कृतियों में आधुनिक काल की ब्रज भाषा का प्रयोग हुआ है। ब्रज भाषा की पाँच प्रमुख उपबोलियाँ हैं–

- **अन्तर्वेदी**–यह एटा, बदायूँ, मैनपुरी के क्षेत्र में बोली जाती है।
- **भुक्ता**–यह नैनीताल के आस-पास बोली जाती है।
- **डांगी**–यह धौलपुर, भरतपुर एवं जयपुर जिले के पूर्वी भाग में बोली जाती है।
- **मिश्रित**–यह पलवल एवं भरतपुर के बीच के मध्य क्षेत्र में बोली जाती है।
- **जादोवाटी**–यह राजस्थान के करौली क्षेत्र के आसपास बोली जाती है।

आगरा, मथुरा तथा अलीगढ़ आदि क्षेत्रों के आस-पास की ब्रज भाषा परिनिष्ठित ब्रज भाषा है। ब्रज भाषा रीति साहित्य हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण पूँजी मानी जाती है। वल्लभ सम्प्रदाय के सूरदास, नन्ददास, नरोत्तम दास, तथा रीतिकाल के केशव दास, भिखारी दास, देव, मतिराम, बिहारी, घनानन्द, भूषण आदि कवियों ने

ब्रजभाषा में 'ह' का कभी-कभी लोप हो जाता है। जैसे—साहूकार-साउकार।

(viii) ब्रजभाषा में 'ह' का कभी-कभी लोप हो जाता है। जैसे—साहूकार-साउकार।

(ix) कारक चिह्नों का प्रयोग—ब्रज भाषा में संयुक्त परसर्ग का प्रयोग निम्न ढंग से होता है—

(क) कर्ता—ने, नैं, नै

(ख) कर्म—कौ, कू

(ग) करण—सौं, सों, सै, तै

(घ) सम्प्रदान—कईं, कै, ताईं, हेत

(ङ) अपादान—तैं, सैं, सें

(च) सम्बंध—(पुल्लिंग एक वचन अविकारी), को—कौ, (स्त्रीलिंग एकवचन अविकारी)—कि, की, (बहुवचन) — के।

(छ) अधिकरण—महं, माहि, महि, माहीं आदि।

(x) इसमें वर्तमान कालिक कृदन्तों में 'त' अथवा 'त्' प्रत्यय लगाए जाते हैं जैसे—जात्, खात्, चलत् आदि। भूतकालिक कृदन्तों में पुल्लिंग एकवचन के साथ-साथ औ या यौ प्रत्यय लगाया जाता है। जैसे—चलौ, चल्यौ तथा स्त्रीलिंग ई या ईं प्रत्यय लगाया जाता है। जैसे—चलो (एकवचन) चलीं (बहुवचन)।

(xi) इसमें 'होनो' का सहायक क्रिया एवं अस्तित्ववाचक क्रिया के रूप में प्रयोग किया जाता है जो कि पुरुष एवं वचन एवं लिंग के अनुसार वर्तमान काल में हूँ, हौं, हैं, हो आदि, भूतकाल निश्चार्थक में—हों, हुतौ, हतो, हुते, हुती, हतीं आदि तथा भविष्य काल निश्चार्थक में हौंगो, हुंगौ, हैगो, हवै है, हवै हैं, हवै हौ, हौंगी, हुँगी, हैंगी आदि रूपों में प्रयुक्त होती है।

3. हरियाणवी—इस बोली का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसका प्रयोग हरियाणा के व्यापक क्षेत्र में होता है, इसलिए इसे हरियाणवी कहते हैं। हरियाणा प्रांत बनने से पहले इसे बाँगरू कहते थे। वस्तुतः हरियाणा बनने से पहले इसे बांगर का क्षेत्र कहते थे। इसलिए यह बोली बाँगरू कहलाई। इस क्षेत्र में जाटों की अधिकता होने के कारण इस भाषा को जाटु भाषा भी कहते हैं। इसकी छः उपबोलियाँ हैं—

(i) **बाँगरू**—यह रोहतक के आस-पास बोली जाती है। यह मुख्यतया जाटों की बोली है।

(ii) **अहीर भाटी**—यह हरियाणा के यादवों अथवा अहीरों की बोली है। यह रेवाड़ी, नारनौल, महेंद्रगढ़ और कोसली आदि क्षेत्रों में बोली जाती है।

(iii) **बागड़ी**—यह राजस्थान की सीमा से लगने वाले भिवानी, हिसार, सिरसा आदि क्षेत्रों में बोली जाती है।

(iv) **कौरवी**—यह उत्तर प्रदेश से जुड़े हुए पानीपत, करनाल, सोनीपत आदि क्षेत्रों की बोली है।

(v) **ब्रजभाषा**—यह पलवल, होडल तथा सीही आदि क्षेत्रों में बोली जाती है। यह पंजाबी तथा पहाड़ी भाषाओं से प्रभावित होने के कारण अम्बाला, कुरुक्षेत्र, यमुनानगर, छिछरौली आदि में बोली जाती है।

विशेषताएँ—हरियाणवी बोली की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) हरियाणवी में 'ल' का उच्चारण 'क' के रूप में किया जाता है जैसे—काला—काका, माला—माका।

(ii) इसमें एक व्यंजन के स्थान पर द्वित्व व्यंजन का प्रयोग होता है। जैसे—बाबू—बाब्बू, भीतर—भीत्तर, गाड़ी—गाड्डी आदि।

(iii) इसमें 'ड़' के स्थान पर 'ड' का उच्चारण करने की प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे—बड़ा— बड्डा, गाड़ी—गाड्डी।

(iv) इसमें 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग किया जाता है। जैसे—खाना, खाणा, होना—होणा, सोना—सोणा आदि।

(v) इसमें जो शब्द 'स' से आरंभ होते हैं उनके उच्चारण में विविधता दिखाई देती है। कहीं तो 'स्' का लोप ही हो जाता है। जैसे—स्टेशन—टेशन। कोसली, रोहतक, रेवाड़ी के आस—पास के ग्रामीण क्षेत्रों में कहीं पर 'स्' को 'स' या 'सा' के रूप में उच्चारित किया जाता है। जैसे स्वाद—सवाद।

3 हिन्दी का भाषिक स्वरूप

आलोचनात्मक प्रश्न

1. स्वनिम से आप क्या समझते हैं? स्वनिमों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी स्वनिम व्यवस्था का परिचय दीजिए।

अथवा

खंड्य स्वनिम व खंड्येत्तर स्वनिमों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर-स्वनिम का अर्थ-स्वनिम के लिए कुछ अन्य शब्दों का भी प्रयोग होता है। हिंदी में इसे ध्वनिग्राम तथा स्वनग्राम भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसके लिए फोनीम (Phoneme) का प्रयोग होता है। फोनीम के लिए स्वनिम शब्द ध्वनिग्राम की अपेक्षा अधिक नवीन है। आजकल ध्वनिग्राम व स्वनग्राम के स्थान पर स्वनिम का अधिक प्रयोग होता है।

स्वनिम का स्वरूप-

स्वनिम के स्वरूप के बारे में विद्वानों ने अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं। ब्लूमफील्ड और डेनियल जोन्स ने इसे भौतिक इकाई माना है। एडवर्ड सापीर ने इसे मनोवैज्ञानिक माना है। परंतु डब्ल्यू. एफ. ट्वाडेल स्वनिम को अमूर्त काल्पनिक इकाई कहते हैं। स्वन अथवा ध्वनि परिवर्तन से हमेशा अर्थ में परिवर्तन नहीं होता। परंतु स्वनिम परिवर्तन से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इस संदर्भ में एक उदाहरण स्वनिम को स्पष्ट कर सकते हैं।

कर–काल–कील–कुल–कूल–केला–कौन–कंस–कहाँ–कभी–की का ध्वनि में कुछ–न कुछ तो भिन्नता है। यह भिन्नता इस कारण है कि का नामक ध्वनि अगली ध्वनि से प्रभावित है परंतु यह भिन्नता बड़ी सूक्ष्म है। विद्वानों ने इसी संदर्भ में स्वनिम सिद्धांत की परिकल्पना की है। उनका कथन है कि उच्चारण की दृष्टि से मिलती-जुलती ध्वनियाँ एक ही प्रतिनिधि के विचरण हैं। किसी भी भाषा में किसी ध्वनि के वाक्य गद्य रूप उसी प्रतिध्वनि स्वन के उपस्वन कहलाते हैं। प्रतिनिधि स्वन को स्वनिम कह सकते हैं। डॉ. ओम प्रकाश भारद्वाज के अनुसार, **"स्वनिम मिलती-जुलती ध्वनियों की अर्थबेधक प्रतिनिधि ध्वनि इकाई है और भाषा में प्रयुक्त उसके प्रकार्यात्मक रूप को उपस्वन कहते हैं।"**

स्वनिम की परिभाषा-

वस्तुतः स्वनिम की अवधारणा पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिकों की देन है। प्रत्येक ध्वनि में प्रत्येक ध्वन्यात्मक परिवेश के कारण कुछ–न–कुछ भिन्न रूप ही उच्चरित होते हैं। लेकिन इन भिन्नताओं के बावजूद कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएं एवं गुण होते हैं कि हम उन्हें स्वनिम कहते हैं।

(i) पाश्चात्य भाषा **वैज्ञानिक ग्लिसन** के अनुसार, **"A phoneme is a class of sound which are phonetically similar and show certain characteristic pattern of distribution in language."** अर्थात् स्वनिम ध्वनियों का एक ऐसा समूह है जो कि ध्वन्यात्मक दृष्टि से समान होती है तथा किसी भाषा में उनके वितरण का एक निश्चित ढाँचा होता है।

(ii) **ब्लॉक एवं ट्रेगर** के अनुसार, **"A phoneme is a family of sounds which compose a phoneme are its also phones."** अर्थात् स्वनिम के संस्वन ही वे अलग-अलग ध्वनियाँ हैं जिनसे स्वनिम निर्मित होता है।

(iii) **ब्लूम फील्ड** के अनुसार, **"A minimum unit of distinctive sound feature is a phoneme"** अर्थात् स्वनिम व्यवच्छेदक ध्वनि स्वरूप की लघुत्तम इकाई है।

(iv) **डेनियल जोन्स** के अनुसार, **"A phoneme is a family of sound in a given language which are related in character and are used in such a way that no one member over occurs in a word in the phonetic context as any other member."** अर्थात् किसी भाषा में स्वनिम (ध्वनि–ग्राम) संबंधित (गुण में) ध्वनियों का परिवार होता है जिसका कोई सदस्य किसी शब्द में इस प्रकार आता है कि उसी प्रकार के ध्वन्यात्मक संदर्भ में उसका कोई दूसरा सदस्य नहीं आता।

(v) **डॉ. बाबूराम सक्सेना** के अनुसार, **"स्वनिम (ध्वनि ग्राम) ऐसी मिलती–जुलती ध्वनियों (स्वनों) को कहते हैं जो एक–दूसरे से शब्दार्थ भेदकारी वैषम्य प्रदर्शित न करें।"**

(vi) **डॉ. भोलानाथ तिवारी** के अनुसार, **"किसी भाषा में किसी भी ध्वनि के ये विभिन्न रूप ही संध्वनि कहलाते हैं और उनको सामाजिक रूप से ढंक लेने वाला एक नाम ध्वनिग्राम कहलाता है।"**

जब एक वक्ता किसी एक ध्वनि या स्वर का बार–बार उच्चारण करता है तो उसके हर बार के उच्चारण में कोई-न-कोई भेद अवश्य देखा जाता है। जैसे– **चंदू के चाचा ने चाँदनी चौंक में चंदू को चटनी चटाई।** यहाँ 'च' ध्वनि का आठ बार उच्चारण हुआ है। प्रत्येक 'च' ध्वनि के उच्चारण में भिन्नता देखी जा सकती है। प्रत्येक 'च' अगली ध्वनि से प्रभावित है। सबके सूक्ष्म अंतरों को ध्यान में रखते हुए च1, च2, च3, च4, च5, च6, च7, च8 के रूप में रख सकते हैं। यह सभी 'च' स्वन के संस्वन कहलाते हैं। यद्यपि इन संस्वनों के बीच भिन्नता है फिर भी एक ध्वनिगत समानता है जिसे हम चत्व कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ण के संस्वन की अपनी ध्वनिगत समानताएं होती हैं। इसी आधार पर हम स्वनिम की परिकल्पना करते हैं। स्वनिम की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है– **"स्वनिम भाषा की ध्वनि-व्यवस्था की वे लघुत्तम इकाइयाँ हैं जो किञ्चित् उच्चारणगत भिन्नता और मौलिक ध्वनिगत समानता रखने वाली संध्वनियों या संस्वनों का प्रतिनिधित्व करती हैं तथा अपनी अर्थभेदक क्षमता के कारण भाषिक ध्वनि-व्यवस्था के अन्य स्वनिमों से भिन्न होती हैं और जिन्हें लिखित भाषा में लेखिमों द्वारा दर्शाया जाता है।"**

हिन्दी की स्वनिम व्यवस्था–हिन्दी भाषा में स्वनिमों को दो भागों में बाँटा गया है–

(क) खण्ड्य स्वनिम (Segmental Phoneme)

(ख) खण्ड्येत्तर स्वनिम (Suprasegmental Phoneme)

(क) खण्ड्य स्वनिम (Segmental Phoneme)–हिन्दी की वे ध्वनियाँ जिन्हें अलग-अलग किया जा सकता है, उन्हें खण्ड्य स्वनिम कहते हैं। इसके पुनः दो भाग हैं–1. स्वर स्वनिम 2. व्यंजन स्वनिम।

1. स्वर स्वनिम–हिंदी में स्वर स्वनिमों की संख्या दस है। ये हैं– अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ। इन स्वनिमों के न्यूनतम युग्म हिंदी में प्रचलित हैं। वस्तुतः हिंदी की वर्णमाला संस्कृत की वर्णमाला पर ही आधारित है। फिर भी इसमें 'ऋ' को स्वतंत्र स्वनिम नहीं माना गया, क्योंकि इसे 'र + इ' का संयुक्त रूप माना गया है, लेकिन हिंदी में जब कभी तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है तब 'ऋ' स्वनिम को स्वीकार कर लिया जाता है। यथा– ऋषि, ऋण, ऋतु, कृपि आदि शब्दों में 'ऋ' का प्रयोग स्वर स्वनिम के रूप में हुआ है। इसके साथ-साथ कुछ विद्वान 'अं' और 'अः' को भी स्वतंत्र स्वनिम मानते हैं, लेकिन यह सही नहीं है क्योंकि ये दोनों 'अ' के ही संस्वन हैं। 'अं' में तो 'अ' के साथ अनुनासिक जुड़ा है और 'अः' में विसर्ग। अतः इनको हिंदी के स्वरों में स्वतंत्र स्वनिम नहीं माना जा सकता। हिंदी के स्वर स्वनिमों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं–

(i) **मूल स्वर**–हिंदी के मूल स्वरों की संख्या केवल तीन है–अ, इ, उ।

(ii) **दीर्घ स्वर**–हिंदी में कुल तीन ही दीर्घ स्वर हैं जिनमें मूल स्वरों का दीर्घ रूप मिलता है– आ (अ + अ), ई (इ + इ), ऊ (उ + उ)।

(iii) **संयुक्त स्वर**–हिंदी में कुल चार संयुक्त स्वर हैं जो मूल स्वरों तथा संयुक्त स्वरों के सहयोग से बनते हैं। जैसे– ए (अ + इ), ऐ (अ + ई), ओ (अ + उ) और (अ + ऊ)। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि संयुक्त स्वर दो स्वरों के योग से बनते हैं, लेकिन इनके उच्चारण के समय मुख के अवयव इतनी शीघ्रता से गतिशील होते हैं कि हमें उनके संयुक्त होने का आभास ही नहीं होता।

2. व्यंजन स्वनिम—हिंदी के व्यंजन स्वनिमों की संख्या के बारे में भी विद्वानों में काफी मतभेद है। कुछ विद्वान 'ष' व्यंजन को अनावश्यक स्वनिम मानते हैं, क्योंकि 'श' वही ध्वनि देता हैं जो 'ष' देता है। फिर भी 'ऋषि', 'उषा' आदि तत्सम शब्दों में 'ष' स्वनिम का प्रयोग देखा जा सकता है। इसी प्रकार से कुछ विद्वान 'ञ्', 'ण्' न को भी अनावश्यक स्वनिम मानते हैं। फिर भी हिंदी की मानक वर्णमाला में कुल 35 व्यंजन स्वनिमों को स्वीकार किया गया है। इन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(i) स्पर्श व्यंजन; (ii) अन्तःस्थ व्यंजन; (iii) ऊष्म व्यंजन।

(i) स्पर्श व्यंजन—वे व्यंजन स्वनिम जिनका उच्चारण करते हुए मुख के अवयव आपस में स्पर्श करते हैं, उन्हें स्पर्श व्यंजन कहते हैं। हिंदी में स्पर्श व्यंजन स्वनिमों की संख्या 28 है, जिनका विवरण इस प्रकार है—

कवर्ग	—	क, ख, ग, घ, ङ
चवर्ग	—	च, छ, ज, झ, ञ
टवर्ग	—	ट, ठ, ड, ढ, ण
तवर्ग	—	त, थ, द, ध, न
पवर्ग	—	प, फ, ब, भ, म
उत्क्षिप्त	—	ल

(ii) अन्तःस्थ व्यंजन—हिंदी के वे व्यंजन स्वनिम जिनका उच्चारण करते समय मुखविवर न तो पूरी तरह से बंद होता है और न ही पूरी तरह से खुला रहता है, उन्हें हम अन्तःस्थ व्यंजन कहते हैं। इन व्यंजन स्वनिमों का उच्चारण करते समय मुखविवर की स्थिति व्यंजन स्वनिमों तथा स्वर स्वनिमों के उच्चारण की स्थिति के समान होती है। ये व्यंजन स्वनिम, स्वर स्वनिमों की तुलना में कम मुखर होती है। हिंदी में इनकी गणना स्वर और व्यंजन दोनों में होती है। ये संख्या में दो हैं— 'य' और 'व'।

(iii) ऊष्म व्यंजन स्वनिम—हिंदी में कुछ व्यंजन स्वनिम ऐसे होते हैं, जिनका उच्चारण करते समय न तो मुख अवयव परस्पर स्पर्श करके प्रश्वास वायु को पूर्णतया अवरुद्ध करते हैं और न ही शिथिल रहकर प्रश्वास वायु को बिना किसी बाधा के बाहर जाने देते हैं। अन्य शब्दों में, हम कह सकते हैं कि ऐसे व्यंजनों के उच्चारण के समय प्रश्वास वायु को संघर्ष करते हुए बाहर निकलना पड़ता है। ऐसे व्यंजन ही ऊष्म अथवा संघर्षी व्यंजन कहलाते हैं। विद्वानों ने इनकी संख्या चार मानी है। ये हैं— श, ष, स, ह। लेकिन हमें 'र' को भी संघर्षी व्यंजनों में स्थान देना चाहिए क्योंकि इसके उच्चारण के समय भी जिह्वा प्रश्वास वायु को पूरी तरह बंद नहीं करती, अतः प्रश्वास वायु को संघर्ष करते हुए बाहर निकलना पड़ता है।

व्यंजन स्वनिमों के बारे में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं—

(a) संयुक्त व्यंजनों में क्ष, त्र, ज्ञ, श्र को स्वतंत्र व्यंजन स्वनिम नहीं माना जाता। इनका निर्माण दो स्वतंत्र स्वनिम के संयोग से हुआ है।

क्ष	=	क् + ष्
त्र	=	त् + र्
ज्ञ	=	ज् + ञ
श्र	=	श् + र

इसके साथ-साथ ह्‌य (ह्य), द्‌व (द्व), ह्‌म (ह्म) आदि को भी स्वतंत्र व्यंजन नहीं माना जा सकता। इनका निर्माण भी दो स्वतंत्र स्वनिमों के योग से हुआ है।

(b) आजकल 'ष' के स्थान 'श' का प्रयोग किया जाता है किंतु प्राचीन ग्रंथों में 'ष' एक स्वतंत्र व्यंजन स्वनिम के रूप में प्रयुक्त होता था। तत्सम शब्दों में आज भी 'ष' का प्रयोग होता है जैसे— ऋषि, शेष, विशेष आदि।

(c) 'ढ', 'ड़' और 'ङ' तीनों व्यंजन स्वनिमों में अर्थबेधक की क्षमता है। अंत इन्हें स्वतंत्र स्वनिम माना जाना चाहिए। जैसे— पढ़ना, ढक्कन, चिड़ियां और चड्डा। इन शब्दों में ढ़ ढ और ड़ ड आदि ध्वनियों के उच्चारण में भिन्नता है।

(d) हिंदी में ऑ, ख़, ग़, फ़, ब़ आदि स्वर और व्यंजन आगत हैं। इनको स्वतंत्र स्वनिम नहीं माना जा सकता क्योंकि ये अर्थ बेधिक स्वनिम नहीं हैं। जैसे— ब्लॉक—ब्लाक, गमला—गमला, कलम—कलम। इन ध्वनियों के प्रयोग में सूक्ष्म भेद हैं। जिसे बहुत कम लोग जानते हैं। जैसे—

(क) अब तो शरीर में (बुढ़ापा) आ गया है।

मुझे ज़रा सा मीठा दे दो।

(ख) मुझे एक कप कॉफी चाहिए।

मुझे काफी चीनी चाहिए।

ऊपर के उदाहरण को देखने से पता चल जाता है कि जो विदेशी शब्द अपनी विशेष ध्वनियों के साथ हिंदी में प्रयुक्त होने लगे हैं, वे ध्वनियां हिंदी व्यंजनों द्वारा ही व्यक्त होती हैं। कुछ विद्वान इन्हें तत्सम और विदेशी शब्दों के रूप में वर्गीकृत करते हैं। हिंदी के तद्भव और तत्सम शब्द समान ध्वनियों से बने विदेशज़ शब्द

सच (सत्य—संज्ञा रूप)	सच (Such)—जैसा ऐसा
हट (क्रिया रूप)	हट (Hut) झोंपड़ी

(e) कुछ विद्वानों तथा हिंदी संस्थाओं ने प्रत्येक वर्ग की पञ्चम वर्ण— न्, ण्, न्, म् को स्वररहित रूप में— माना है जिससे ङ और ञ का प्रयोग घट गया है। अब कुञ्ज पर कुंज तथा गङ्गा के स्थान पर गंगा का प्रयोग होने लगा है। परंतु ऐसे तत्सम और तद्भव शब्द जिनमें दोहरे वर्ण प्रयुक्त होते हैं वहाँ पहले पञ्चम वर्ण मूल रूप में आता है।

शुद्ध	अशुद्ध
सम्मान	समान
तन्मय	तंमय
वाङ्मय	वांमय
अन्न	अंन

इन पाँचों पञ्चम वर्णों को वर्णमाला में रखना चाहिए। अन्यथा प्राचीन ग्रंथों का ठीक से अध्ययन नहीं हो सकेगा। ये सभी वर्ण स्वनिम अर्थबेधिक हैं। उदाहरण के रूप में ण् और न् को लिया जा सकता है। अणु शब्द का प्रयोग सूक्ष्म कण के लिए होता है लेकिन अणु एक उपसर्ग है।

(ख) खण्ड्येत्तर स्वनिम (Suprasegmental Phoneme)—हिंदी में कुछ ऐसे भी स्वनिम हैं जिनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता। ऐसे स्वनिमों को खण्ड्येत्तर स्वनिम कहते हैं। ये सभी स्वनिम खण्ड्रेय स्वनिम पर आधारित होते हैं। अंग्रेजी में इसे (Suprasegmental Phoneme)कहते हैं। इनकी कुल संख्या 5 है। ये हैं—

1. मात्रा; 2. सुर; 3. बलाघात; 4. संगम; 5. अनुनासिकता

(1) मात्रा—किसी स्वनिम का उच्चारण करने में जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। इसे अंग्रेजी में length कहते हैं। इसका एक अन्य नाम 'दीर्घता' है। हिंदी में व्यंजनों की दीर्घता प्रायः 'ध्वनिग्रमिक' कहलाती है। जैसे— सच > सच्च, बचा > बच्चा, बला > बल्ला, पता > पत्ता। इसी प्रकार हे राम! और राउम् के उच्चारण से भी अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। पहले राम और राउम् से 'रा' की दीर्घता बढ़ गई है। परंतु यदि 'म' की दीर्घता बढ़ेगी तो उच्चारण करने वाले के मन की पीड़ा का पता चल जाएगा।

(2) सुर—इसे 'अनुतान' भी कहते हैं। इसके लिए अंग्रेजी भाषा में (Intonation) शब्द का प्रयोग किया जाता है। परंतु हिंदी भाषा में सुर का प्रभाव वाक्य-स्तर पर देखा जाता है। उदाहरण के लिए—

जहाँ-जहाँ पाँव पड़े संतन के,
तहाँ-तहाँ बंटा धार।

...। इसी प्रकार ...
(a) वह चला गया। (सामान्य कथन, किसी के चले जाने का अर्थ—बोध के बारे में जानने)

(b) वह चला गया? (प्रश्नवाचक, किसी के चले जाने या न जाने की जिज्ञासा)

(c) वह चला गया! (विस्मय, किसी के चले जाने पर आश्चर्य प्रकट)

(3) बलाघात—इसके लिए अघात शब्द का प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजी में इसे **'stress'** कहते हैं। जब हम वाक्य के किसी शब्द पर बलाघात का प्रयोग करते हैं तो उससे वाक्य के पूरे अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। कभी तो बलाघात पूरे वाक्य पर होता है और कभी वाक्यांश पर होता है। यह बलाघात शब्द, पद, ध्वनि वाक्य या वाक्यांश में से किसी एक पर हो सकता है। इसलिए इसे खण्ड्येत्तर स्वनिम कहते हैं। एक उदाहरण देखिए—

(a) **रोको मत**, जाने दो।

रोको, मत जाने दो।

मान लो एक पुलिस अधिकारी सिपाही को कहता है रोको मत, जाने दो तो इसका अर्थ यह हुआ कि उस व्यक्ति को रोकना नहीं है, उसे जाने देना है। परंतु यदि बलाघात रोको पर है तो उसका अर्थ होगा उसे रोकना है। जाने नहीं देना।

नीचे एक उदाहरण देखिए—

(i) **मुझे** एक गणित की पुस्तक चाहिए।

(ii) मुझे **एक** गणित की पुस्तक चाहिए।

(iii) मुझे एक **गणित** की पुस्तक चाहिए।

(iv) मुझे एक गणित की **पुस्तक** चाहिए।

यहाँ पहले वाक्य का अर्थ है पुस्तक मुझे चाहिए किसी ओर को नहीं चाहिए। दूसरे वाक्य का अर्थ है मुझे एक पुस्तक चाहिए दो नहीं चाहिए। तीसरे वाक्य का अर्थ है मुझे गणित की पुस्तक चाहिए हिंदी की नहीं चाहिए। चौथे का अर्थ है पुस्तक चाहिए कॉपी नहीं चाहिए। यदि वक्ता सही बलाघात का प्रयोग करेगा, तो दुकानदार उसे सही पुस्तक दे सकेगा अथवा नहीं।

इसी प्रकार 'गुरु' शब्द को लिया जा सकता है।

(i) विद्यार्थी अपने गुरु का आदर करते हैं।

(ii) तुम तो बड़े गुरु निकले जो सभी को चकमा देकर निकल गए।

पहले वाक्य में 'गुरु' शब्द का प्रयोग अध्यापक अथवा शिक्षक के लिए हुआ है। यहाँ गुरु शब्द आदरसूचक है। परंतु दूसरे वाक्य में 'गुरु' शब्द पर बलाघात होने के कारण धूर्त अथवा बदमाश शब्द की अभिव्यक्ति होती है।

(4) संगम—इसे अंग्रेजी में **'Juncture'** कहते हैं। हिंदी में अकसर देखा गया है कि शब्दों को समीप या दूर रखने से उनके अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इसे हम संगम स्वनिम भी कहते हैं। नीचे कुछ उदाहरण देखिए—

खाजा (मिठाई का नाम)	खा जा (खाने की क्रिया का भाषा)
पी ली (क्रिया)	पीली (क्रिया विशेषण)
जल—सा (पानी जैसा)	जलसा (भीड़)
नाना (माँ का पिता)	ना ना (नहीं—नहीं)
खा ली (क्रिया)	खाली ('रहित'—विशेषण)
वरदे (सरस्वती)	वर दे (वरदान का आग्रह)
आजा (निकट बुलाने का आग्रह)	आ जा (आना व जाना)

(v) अनुनासिकता—हिंदी में अनुनासिक ध्वनियों को भी खण्ड्येत्तर स्वनिम कहा गया है। अकसर अनुनासिकता का प्रयोग करने से शब्दों के अर्थों में परिवर्तन आ जाता है। कुछ उदाहरण देखिए—

पूछ—पूँछ	सास—साँस
मास—मांस	चाटा—चाँटा
काटा—काँटा	बाटा—बाँटा
जरा—ज़रा	काफी—कॉफी
गोद—गोंद	खा—खाँ

◆◆◆

3.1 स्वनिम व्यवस्था

(क) स्वर—परिभाषा और वर्गीरण

1. हिन्दी स्वर का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट करते हुए स्वरों का वर्गीकरण कीजिए। **(Most Imp.)**

अथवा

हिन्दी स्वर ध्वनियों का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर—स्वर : अर्थ एवं स्वरूप—भाषा वैज्ञानिकों ने अपने-अपने तरीके से स्वर तथा व्यंजन की परिभाषाएं दी हैं। प्रसिद्ध व्याकरण पंतजलि ने स्वर तथा व्यंजन की परिभाषा देते हुए लिखा है—

स्वयं राजन्ते स्वराः, अन्वगृ भवति व्यंजनमिति।

इसका अर्थ है कि जो स्वयं प्रकाशित होते हैं तथा वे स्वर हैं, जो अनुगामी होते हैं, वे व्यंजन हैं। अर्थात् व्यंजन स्वरों के सहायता से उच्चरित होते हैं। इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि स्वर एक मुख्य स्वन है परन्तु व्यंजन असहाय ध्वनि है। परन्तु आधुनिक भाषा विज्ञान के कारण पंतजलि की मान्यता अब खंडित हो चुकी है क्योंकि संसार में कुछ ऐसी भाषाएं हैं जिनमें स्वर नहीं होते। अफ्रीका में इयो नाम की ऐसी भाषा है जिसके व्यंजन स्वरों की सहायता बिना उच्चरित होते हैं। चैकोस्लोवाकिया की चैक भाषा की भी यही स्थिति है। डॉ. ओ. पी. भारद्वाज ने स्वर की परिभाषा देते हुए लिखा है—**"स्वर वे स्वन हैं जिनके उच्चारण में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं होता और श्वास वायु मुख विवर से बिना किसी बाधा के उच्चरित होती है।"** स्वरों के बारे में विद्वानों ने अलग-अलग भाषाएं दी हैं—

डॉ. भोलानाथ तिवारी लिखते हैं—**"स्वर उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में 'मुंह' के वायु मार्ग में किसी भी प्रकार की पूर्ण या अपूर्ण रुकावट नहीं होती।"**

डॉ. रत्न चन्द्र शर्मा के अनुसार—**"जिस ध्वनि का उच्चारण स्वतः हो जाता है और उसके उच्चारण के लिए किसी अन्य सहायक ध्वनि की आवश्यकता नहीं पड़ती उसे स्वर कहते हैं।"**

ब्लॉक के अनुसार—**"स्वर उन ध्वनियों को कहते हैं जो मुख में किसी प्रकार अवरुद्ध हुए बिना उच्चरित होती है। फेफड़ों से आने वाली वायु ओष्ठ और उससे आगे तक अवरुद्ध नहीं होती। इनको कहीं संकीर्ण मार्ग से नहीं निकलना पड़ता। यह मुख विवर की स्वर सीमा से ऊपर नहीं जाती, इसमें स्वरतंत्री से ऊपर वाले वाक्-अवयव में कम्पन नहीं होता। यह साधारणत या घोष ध्वनि होती है, परन्तु ऐसा अनिवार्य नहीं है।"**

डॉ. कपिल द्विवेदी के अनुसार—**"स्वर वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में वायु अबाध गति से मुख विवर से बाहर निकलती है।"**

स्वर तथा व्यंजन में अन्तर

पहले बताया जा चुका है कि व्यंजन ध्वनियाँ स्वतः उच्चरित नहीं हो सकतीं। उसके उच्चारण के लिए स्वरों की आवश्यकता होती है। स्वरों के उच्चारण में फेफड़ों से बाहर आने वाली प्रश्वास वायु श्वास नलिका में स्थित स्वरतंत्रियों से घर्षण करती है

जिसके फलस्वरूप सभी स्वर घोष होते हैं। परन्तु स्वर मुख विवर में कहीं बाधित नहीं होते। इसके विपरीत व्यंजनों में प्रत्येक वर्ग का तीसरा, चौथा, पाँचवा, वर्ण श्वास नलिका में स्वर तंत्रियों से घर्षण करने के कारण घोष कहलाते हैं। लेकिन व्यंजनों के उच्चारण के समय मुख विवर के किसी न किसी स्थान पर प्रश्वास वायु में अवश्य ही टकराव, घर्षण एवं बाधा होती है। उदाहरण के रूप में क्, ख्, ग्, घ् आदि व्यंजन अपने मूल रूप में उच्चरित नहीं हो सकते। इनके उच्चारण में स्वर की सहायता आवश्यक है जैसे–क् + अ = क, ख् + अ = ख, ग् + अ = ग, घ् + अ = घ। अन्य स्वर भी व्यंजनों के उच्चारण में सहयोग देते हैं। यथा–किसान = क + इ + स् + आ + न् + अ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वरों के उच्चारण में प्रश्वास वायु मुख विवर में बाधित नहीं होती। परन्तु व्यंजनों के उच्चारण में प्रश्वास वायु मुख विवर में कहीं-न-कहीं अवश्य बाधित होती हैं।

स्वरों की विशेषताएँ–स्वरों की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं–

(i) सभी स्वर सघोष होते हैं उनके उच्चारण में स्वरतंत्रियों में अधिक कम्पन होता है।

(ii) स्वर मुख विवर के किसी भी अंग का स्पर्श नहीं करते।

(iii) स्वरों का उच्चारण देर तक किया जा सकता है।

(iv) व्यंजनों के बिना स्वरों का उच्चारण आसानी से हो सकता है।

(v) स्वरों को अधिक दूर तक सुना जा सकता है।

(vi) स्वरों में स्वराघात सहन करने की भी शक्ति होती है।

(vii) व्यंजनों के साथ मिलकर स्वर अक्षरों का निर्माण करते हैं।

स्वरों का वर्गीकरण–हिन्दी में स्वर हैं–अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।

इनका वर्गीकरण इस प्रकार से हो सकता है–

(क) स्थान के आधार पर स्वरों का वर्गीकरण

हिन्दी के स्वरों का जिन वागंगों द्वारा उच्चारण किया जाता है। उन वागंगों के आधार पर स्वरों का वर्गीकरण किया गया है। वागंगा ही वे स्थान हैं जिनसे स्वरों का उच्चारण होता है।

1. **कण्ठ्य (Guttural)**–जिस स्वर का उच्चारण कंठ से होता है उसे कण्ठ्य स्वर कहते हैं। यह स्थान मुख विवर है जोकि अलिजिह्व तथा मूर्धा के बीच स्थित है। हिन्दी के कण्ठ्य स्वर हैं–'अ' और 'अः'।
2. **तालव्य (Platel)**–तालव्य वे स्वर होते हैं जिनका उच्चारण स्थान तालु से होता है। तालु से हमारा अभिप्राय है कोमल तालु, कठोर तालु नहीं तालव्य स्वर है–'इ'।
3. **मूर्धन्य (Cerebral)**–मूर्धा से जिस स्वर का उच्चारण होता है उसे मूर्धन्य कहते हैं। मुख विवर के ऊपरी छत के मध्य भाग को मूर्धा कहते हैं। 'ऋ' मूर्धन्य स्वर कहलाता है।
4. **दन्तव्य (Dental)**–दन्तूय से अभिप्रायः ऊपर के दांत हैं। जिस स्वर का उच्चारण दांतों की सहायता से हो उसे दन्तूय स्वर कहते हैं। 'लृ' दन्तव्य स्वर कहलाता है। परन्तु हिन्दी में अब इसका प्रयोग नहीं होता।
5. **ओष्ठ्य (द्वयोष्ठ्य) (Labial)**–दोनों ओष्ठों की सहायता से जिन स्वरों का उच्चारण होता है उन्हें द्वयोष्ठ्य कहते हैं। 'ऊ', 'औ' दोनों ओष्ठ्य स्वर हैं।
6. **नासिक्य (Nasal)**–जिस स्वर का उच्चारण नासिका से होता है उसे हम नासिक्य स्वर कहते हैं। जैसे–'अं अनुसासिक स्वर है। इस ध्वनि के उच्चारण के समय श्वास वायु नाक से ही निकलती है।
7. **कण्ठ-तालव्य**–जिन स्वरों का उच्चारण कण्ठ और तालु से एक साथ होता है उन्हें कण्ठ तालव्य स्वर कहते जैसे–'ए' और 'ऐ'।
8. **कंठोष्ठ्य**–जिन स्वरों का उच्चारण कण्ठ और ओष्ठ दोनों स्थानों से होता है उन्हें कंठोष्ठ्य स्वर कहा जाता जैसे–'ओ' और 'औ'।
9. **दन्तोष्ठ्य**–जिस स्वर का उच्चारण दांत और ओष्ठ दोनों से होता है–जैसे 'व'।

(ख) प्रयत्न के आधार पर स्वरों का वर्गीकरण—

1. **जिह्वा की सक्रियता के आधार पर**—विभिन्न स्वरों का उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्र, मध्य और पश्च भाग ऊपर होता है पर वह इतना नहीं उठता कि वह तालु व मूर्धा को स्पर्श कर सके। केवल जिह्वा का अग्र, मध्य, पश्च में से थोड़ा भाग आगे उठता है। इसी आधार पर स्वरों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—
   (क) अग्र स्वर—इ, ई, ए, ऐ।
   (ख) मध्य स्वर—अ, उ।
   (ग) पश्च स्वर—ऑ, आ, उ, ऊ, ओ, औ।

2. **जिह्वा तथा मुख विवर की सक्रियता के आधार पर**—जिह्वा के ऊपर उठने तथा मुख विवर की स्थिति को आधार बनाकर स्वरों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है—
   (क) **विवरित**—इसमें मुख विवर पूरा खुला रहता है और जिह्वा निष्क्रिय रहती है—'आ'।
   (ख) **अर्ध-विवृत**—जब जिह्वा मुख विवर के एक तिहाई भाग तक ऊपर उठती है और मुख विवर एक तिहाई ही खुला रहता है। उस समय जो स्वर उत्पन्न होते हैं उन्हें अर्ध-विवृत स्वर कहते हैं जैसे—अ, ए, ए, औ।
   (ग) **अर्ध-संवृत्त**—जब जिह्वा मुख विवर के एक तिहाई भाग तक ऊपर उठती है और मुख विवर का एक तिहाई भाग खुला रह जाता है। जैसे—'ए', 'ओ'।
   (घ) **संवृत्त**—जब जिह्वा और अधिक ऊपर उठकर मुख विवर के अधिकांश भाग को घेर लेती है तब संवृत स्वर उद्घृत होते हैं जैसे—इ, ई, उ, ऊ।

3. **ओष्ठों की स्थिति के आधार पर**—कुछ स्वरों के उच्चारण के समय ओष्ठ वृत्ताकार हो जाते हैं। कुछ निसंकुचित होते हैं। कुछ में उदासीन रहते हैं। इनके आधार पर तीन आधार हो सकते हैं—
   (क) **वृत्ताकार**—जिन स्वरों के उच्चारण के समय होंठ गोलाकार हो जाते हैं उन्हें वृत्ताकार के स्वर कहते हैं। जैसे—उ, ऊ, ओ, औ।
   (ख) **अवृत्ताकार**—जिन स्वरों के उच्चारण के समय ओष्ठ स्वाभाविक स्थिति में खुलते हैं वृत्ताकार नहीं होते, वे अवृत्ताकार स्वर कहलाते हैं। जैसे—इ, ई, ए, ऐ।
   (ग) **उदासीन**—जिन स्वरों के उच्चारण में ओष्ठों की कोई सक्रिय भूमिका नहीं होती है, वे उदासीन स्वर होते हैं जैसे—'अ'।

4. **मात्रा के आधार पर स्वरों का वर्गीकरण**—मात्रा का अर्थ है समय सीमा अथवा काल। प्रत्येक उच्चारण करने में जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। संस्कृत में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तीन प्रकार के स्वर हैं—
   (क) **ह्रस्व स्वर**—वे स्वर जो एक मात्रा वाले होते हैं। जैसे—अ, इ, उ।
   (ख) **दीर्घ स्वर**—वे स्वर जो दो मात्रा वाले होते हैं जैसे—आ, ई, ऐ, ओ, ऊ, औ।
   (ग) **प्लुत स्वर**—प्लुत ध्वनि को मात्रानुसार तीन अंक के साथ दिखाया जाता है अर्थात् इसमें तीन तथा तीन से अधिक मात्राओं का समय लगता है—'ओ३म्'। कई बार प्लुत स्वर में तीन से अधिक मात्राओं का प्रयोग होता है। र ऽ ऽ ऽ ऽ।
   (घ) **अर्धस्वर**—कुछ ऐसे स्वर भी हैं जिनमें आधी मात्रा का प्रयोग होता है। इन्हें उदासीन स्वर भी कहते हैं। जैसे—अँ।

5. **अनुनासिकता के आधार पर**—अनुनासिकता के आधार पर भी स्वरों के दो भेद हैं—
   (क) **अननुनासिक (निरनुनासिक) स्वर**—जब कोमल तालु तथा अलिजिह्वा मिलकर नासिक विवर को बिल्कुल बंद कर देते हैं, ऐसी स्थिति में प्रश्वास वायु मुख से निकलती है। उस समय अननुनासिक या निरनुनासिक स्वर उत्पन्न होते हैं। हिन्दी के सभी स्वर अननुनासिक हैं। जैसे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ओ, औ।

(ख) **अनुनासिक स्वर**–इन स्वरों के उच्चारण में नासिका विवर की उपस्थिति रहती है। अर्थात् प्रश्वास वायु मुख विवर तथा नासिका विवर से बाहर निकलती है। ये ध्वनियाँ हैं–अँ, आँ, इँ, ईं, उँ, ऊँ आदि। इसके आँख, हाँ आदि शब्द अनुनासिक शब्द हैं।

6. **स्वरतंत्रियों के आधार पर**–हिन्दी के सभी स्वर घोष हैं। कारण यह है कि इन सभी का उच्चारण करते हुए प्रश्वास स्वर तंत्रियों के साथ घर्षण करती हैं। किन्तु अन्य भाषाओं और बोलियों में अघोष स्वर भी पाए जाते हैं। स्वर तंत्रियों के आधार स्वरों के तीन भेद हैं–

(क) **घोष स्वर**–हिन्दी के सभी स्वर घोष स्वर कहलाते हैं, क्योंकि इनके उच्चारण के समय स्वर तन्त्रियों में कम्पन होता है।

(ख) **अघोष स्वर**–अघोष स्वरों के उच्चारण के समय प्रश्वास वायु को बाहर निकलते समय स्वर तंत्रियों से घर्षण नहीं करना पड़ता। धीमी गति से विशेष स्थिति में जो स्वर होते हैं वे अघोष रूप धारण कर लेते हैं। विशेषकर धीमी गति में वार्तालाप करते समय।

(ग) **जपित स्वर**–रोगी अथवा दुर्बल व्यक्ति की प्रश्वास वायु बहुत धीमी गति से बाहर निकलती है, जिससे स्वर तंत्रियों में बहुत कम घर्षण होता है। इस स्थिति में जो स्वरों का उच्चारण होता है वह फुसफुसाहट के स्तर तक पहुँच जाता है। अतः इन्हें जपित स्वर कहते हैं।

7. **मुख की मांसपेशियों की दृढ़ता के आधार पर**–कुछ स्वरों के उच्चारण के समय मुख की मांसपेशियाँ दृढ़ हो जाती हैं, कुछ के उच्चारण के समय शिथिल हो जाती हैं। अतः मांसपेशियों के आधार पर स्वरों के तीन वर्ग हैं–

(क) **दृढ़ स्वर**–जिन स्वरों का उच्चारण करते समय मांसपेशियों में तनाव तथा दृढ़ता होती है, उन्हें दृढ़ स्वर कहते हैं। जैसे–आ, ई, ऊ।

(ख) **मध्यम स्वर**–जिन स्वरों के उच्चारण के समय मांसपेशियाँ न पूरी तरह शिथिल होती हैं न दृढ़ होती हैं, उन्हें मध्यम स्वर कहते हैं। जैसे–ए, ओ।

(ग) **शिथिल स्वर**–जिन स्वरों का उच्चारण करते समय मांसपेशियाँ शिथिल रहती हैं, उन्हें शिथिल स्वर कहते हैं। जैसे–अ, इ, उ।

8. **संयुक्तता के आधार पर**–संयुक्तता के आधार पर स्वरों के दो वर्ग हैं–

(क) **मूल स्वर**–जिन स्वरों के उच्चारण में जिह्वा एक स्थान पर रहती हैं उन्हें मूल स्वर कहते हैं। जैसे–अ, आ, इ, ई, उ, ऊ।

(ख) **संयुक्त स्वर**–जिन स्वरों के उच्चारण में जिह्वा एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंच जाती है, उन्हें संयुक्त स्वर कहते हैं। जैसे, ए, ऐ, ओ, औ। ये चारों संयुक्त स्वर दो स्वर ध्वनियों के मेल से बने हैं।

ए = ए + इ, ओ = अ + उ

ऐ = अ + ए, औ = अ + ओ।

◆◆◆

(ख) व्यंजन–परिभाषा और स्वरूप

2. **हिन्दी व्यंजनों का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट करते हुए व्यंजनों का वर्गीकरण कीजिए।** **(Most Imp.)**

अथवा

हिन्दी व्यंजन ध्वनियों का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर–व्यंजन : अर्थ एवं स्वरूप–ध्वनि विज्ञान के अनुसार सघोष वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में श्वास नालिका से आती हुई वायु अबाध गति से मुख से निकल जाती है और मुख विवर में ऐसा कोई संकोच नहीं होता कि तनिक भी संघर्ष अथवा स्पर्श हो। किन्तु व्यंजनों के मुख विवर में रुकावट अवश्य आती है। स्वर और व्यंजन के अन्तर को स्पष्ट करते हुए **डॉ. देवेन्द्र नाथ शर्मा**

लिखा भी है—"स्वर वे ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण करते समय निःश्वास में कहीं कोई अवरोध उत्पन्न नहीं होता (यदि होता तो अत्यल्प)। व्यंजन वे ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण करते समय निःश्वास में कहीं न कहीं अवरोध अवश्य होता है।" व्यंजन के बारे में विद्वानों ने अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं—

1. डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार, **"व्यंजन वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से बाहर निकल नहीं पाती। या तो इसे पूर्व अवरुद्ध होकर फिर आगे बढ़ना पड़ता है या संकीर्ण मार्ग से घर्षण रखते हुए निकलना पड़ता है, मध्य रेखा से हटकर एक या दोनों पार्श्वों से निकलना पड़ता है, या किसी भाग को कंपित करते हुए निकलना पड़ता है। इस प्रकार वायु मार्ग में पूर्ण या अपूर्ण अवरोध उपस्थित होता है।"**
2. डॉ. कपिल द्विवेदी के अनुसार, **"व्यंजन वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में वायु अबाध गति से बाहर नहीं निकल पाती है।"**
3. डॉ. रामचन्द्र वर्मा के अनुसार, **"जिस ध्वनि का उच्चारण के लिए स्वर वर्ण की सहायता लेनी पड़ती है उसे व्यंजन कहते हैं।"**
4. ब्लॉक एवं ट्रेगर के अनुसार, **"व्यंजन वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में फेफड़ों से आने वाली वायु स्वरतंत्री या मुखमार्ग में कहीं पूर्णतया रोकी जाती है या अत्यन्त संकुचित मार्ग से निकलती है या मुख विवर को स्वर-सीमा से हटाते हुए जिह्वा के एक या दोनों ओर से निकलती है या स्वरतंत्री से ऊपर वाले किसी वाक् अवयव में कम्पन पैदा करती है।"**
5. डॉ. नरेश मिश्र के अनुसार, **"व्यंजन वे ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में स्वर ध्वनि का सहयोग अनिवार्य हो, निःश्वास की वायु मुख विवर से अबाध गति से निकल नहीं पाती, वरन् बाधित होने के कारण घर्षण करती हुई बाधित हुई बाहर आती है।"**

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वरों के उच्चारण के समय प्राणवायु मुख विवर में बिना किसी बाधा के उत्पन्न होती है। लेकिन व्यंजनों के उच्चारण के समय प्राण वायु मुख विवर में कहीं न कहीं अवश्य बाधित होती है। इसीलिए महाभाष्यकार पतंजलि ने लिखा भी है—**"स्वयं राजेन्ते स्वराः अन्वग् भवति व्यंजनम्"**। अर्थात् स्वर स्वतन्त्र रूप से शोभित होते हैं और व्यंजन उनका अनुसरण करते हैं। क, ख, ग आदि व्यंजन अपने मूल रूप में उच्चरित नहीं हो सकते। इनके उच्चारण में स्वर की सहायता लेनी पड़ती है। छोटे बच्चों को हिन्दी के वर्णों की पहचान करवाने के लिए स्वरों का ही सहयोग लिया जाता है। जैसे—क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः।

व्यंजनों की निम्नलिखित विशेषताएँ हो सकती हैं—

1. स्वरों की सहायता के बिना व्यंजनों का उच्चारण करना कठिन होता है।
2. व्यंजनों के उच्चारण के समय मुख विवर में प्राण वायु अवरुद्ध होती है।
3. व्यंजनों का उच्चारण देर तक नहीं किया जा सकता।
4. व्यंजन अक्षरों का निर्माण नहीं कर सकते।
5. व्यंजनों में स्वराघात नहीं होता।
6. व्यंजन सुनने में अधिक फुस्फुट नहीं होती।

व्यंजनों का वर्गीकरण—व्यंजनों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर किया जा सकता है—

(क) उच्चारण स्थान के आधार पर।
(ख) प्रयत्न के आधार पर।
(ग) स्वर तंत्रियों की स्थितियों के आधार पर।
(घ) प्राणत्व के आधार पर।
(ङ) अनुनासिकता के आधार पर।
(च) संयुक्तता के आधार पर।
(छ) मांसपेशियों की दृढ़ता के आधार पर।

(क) उच्चारण स्थान के आधार पर व्यंजनों का वर्गीकरण

1. **काकल्य (Glottal)**–जिन व्यंजनों के उच्चारण मुख विवर में स्थित काकल नामक स्थान से होता है, उन्हें हम काकल्य व्यंजन कहते हैं। काकल्य व्यंजनों के उच्चारण के समय मुख विवर पूर्णतया खुला रहता है। हिन्दी का 'ह' व्यंजन काकल्य है।

2. **कण्ठ्य (Guttral)**–हिन्दी के वे व्यंजन जिनका उच्चारण कंठ से होता है, उन्हें कण्ठ्य व्यंजन कहते हैं। इन व्यंजनों के उच्चारण के समय जिह्वा का पिछला भाग तालु का स्पर्श करता है। प्रथम वर्ग के क, ख, ग, घ ये चारों व्यंजन कण्ठ्य हैं।

3. **तालव्य (Palatels)**–हिन्दी के जिन व्यंजनों का उच्चारण तालु से होता है, उन्हें तालव्य कहते हैं। इसमें जिह्वा को अगला भाग कठोर तालु को छूता है। च, छ, ज, झ तथा य और श तालव्य व्यंजन कहलाते हैं।

4. **मूर्धन्य (Cerebrals)**–हिन्दी के जिन व्यंजनों का उच्चारण मूर्धा से होता है, उन्हें हम मूर्धन्य व्यंजन कहते हैं। इनके उच्चारण के समय जिह्वा का अगला भाग कठोर तालु के पिछले भाग (मूर्धा) का स्पर्श करता है। ट, ठ, ड, ढ तथा र और ष मूर्धन्य व्यंजन कहे जाते हैं।

5. **वर्त्स्य (Alreotars)**–जिन व्यंजनों से उच्चारण वर्त्स से होता है, उन्हें वर्त्स्य व्यंजन कहते हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा नोक वर्त्स अर्थात् ऊपरी मसूढ़े का स्पर्श करती है। कई बार ये ध्वनियाँ वर्त्स के समीप पहुंचकर एक झटके के साथ पीछे मुड़ जाती हैं। न, ल, ज, र, ढ, ड वर्त्स ध्वनियाँ कही गई हैं।

6. **दन्त्य (Dental)**–जिन व्यंजनों का उच्चारण दांतों के सहयोग से होता है, उन्हें दन्त्य व्यंजन कहते हैं। इन व्यंजनों के उच्चारण के समय जिह्वा भी ऊपरी दन्त पंक्ति का स्पर्श करती है। त, थ, द, ध, न तथा स व्यंजन दन्त्य कहलाते हैं।

7. **ओष्ठ्य (Libials)**– जिन व्यंजनों का उच्चारण दोनों ओष्ठों से होता है, उन्हें ओष्ठ्य ध्वनियाँ कहते हैं। इनके उच्चारण के समय व्यंजन दोनों ओष्ठों का स्पर्श करते हैं। प, फ, ब, भ चारों ओष्ठ्य व्यंजन हैं।

8. **जिह्वा मूलीय**– जिन व्यंजनों का उच्चारण जिह्वा मूल से होता है, उन्हें जिह्वा मूलीय कहते हैं। इन व्यंजनों के उच्चारण के समय जिह्वा का मूल भाग तालु के निचले भाग को हल्का-सा स्पर्श करता है। उर्दू के कुछ व्यंजन क़, ख़, ग़, ज़, जिह्वा मूलीय व्यंजन है और ये हिन्दी में स्थान पा गए हैं।

9. **दन्तोष्ठ्य (Dentolibials)**–जिन व्यंजनों का उच्चारण दाँतों और ओष्ठों दोनों से होता है, उन्हें दन्तोष्ठ्य व्यंजन कहते हैं। 'व' तथा 'फ' दोनों ही दन्तोष्ठ्य व्यंजन हैं।

(ख) **प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों का वर्गीकरण**–प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों का वर्गीकरण उनके वागंगों की सक्रियता से जुड़ा है। व्यंजनों का उच्चारण करते समय वागंगों को प्रयत्न करना पड़ता है।

(i) **स्पर्श व्यंजन**–जिनके उच्चारण के समय मुख के दो भिन्न अंग, दोनों ओष्ठ, नीचे का ओष्ठ, ऊपर के दाँत, जीभ की नोक तथा दाँत आदि एक-दूसरे का स्पर्श करते हैं तथा वायु उनको स्पर्श करती बाहर आती है तब स्पर्श व्यंजनों का उच्चारण होता है। हिन्दी के स्पर्श व्यंजन निम्नलिखित हैं–

1. कवर्ग–'क', 'ख', 'ग', 'घ'
2. टवर्ग–'ट', 'ठ', 'ड', 'ठ'
3. तवर्ग–'त', 'थ', 'द', 'ध'
4. पवर्ग–'प', 'फ', 'ब', 'भ'

ये कुल 24 व्यंजन स्पर्श व्यंजन कहलाते हैं।

(ii) **स्पर्श संघर्षी**–जिन व्यंजनों के उच्चारण में पहले स्पर्श होता है फिर घर्षण होता है, उन्हें स्पर्श संघर्षी व्यंजन कहते हैं। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि इन व्यंजनों के उच्चारण में ध्वनि पहले वागंगों को स्पर्श करती है फिर प्रश्वास वायु संघर्ष करती हुई बाहर आती है। हिन्दी के चवर्ग (च, छ, ज, झ) चारों स्पर्श संघर्षी व्यंजन हैं।

(iii) संघर्षी—जिन व्यंजनों के उच्चारण में मुख के दो वागंग एक-दूसरे के निकट आ जाते हैं जिससे वायु निकलने का मार्ग संकीर्ण हो जाता है ऐसी स्थिति में प्रश्वास वायु संघर्ष करती हुई बाहर निकलती है, इन्हें इस संघर्षी व्यंजन कहते हैं। ये हैं—ख, ग, ज, श, ष, स।

(iv) नासिक्य—जिन व्यंजनों के उच्चारण के समय वागंगों का स्पर्श करने के बाद वायु नासिका मार्ग से बाहर निकलती है, उन्हें नासिक्य व्यंजन कहते हैं। प्रत्येक वर्ग का पाँचवां वर्ण नासिक्य होता है। यथा—ङ, ञ, ण, न, म।

(v) पार्श्विक—जिन व्यंजनों के उच्चारण में मुख विवर में दो वागंगों के मिलने से वायु मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और प्रश्वास वायु जिह्वा के एक ओर या दोनों ओर से बाहर निकलती है, उन्हें पार्श्विक व्यंजन कहते हैं, जैसे (ल)।

(vi) लुण्ठित—जिस व्यंजन के उच्चारण के समय जिह्वा बेलन की तरह लपेट खाती है और वर्त्स का स्पर्श करके नीचे लुढ़क जाती है, उसे लुण्ठित व्यंजन कहते हैं जैसे—(र)।

(vii) उत्क्षिप्त—जिन व्यंजनों के उच्चारण में जीभ की नोक झटके से तालु को छूती है और वापिस आ जाती है, उसे उत्क्षिप्त व्यंजन कहते हैं जैसे—(ड़, ढ़)।

(viii) अन्तःस्थ या अर्ध स्वर—जिन व्यंजनों के उच्चारण की प्रकृति स्वर और व्यंजन के मध्य होती है, उन्हें अर्ध स्वर कहते हैं। इन व्यंजनों का उच्चारण स्वर के समान आरंभ होता है और व्यंजन में समाप्त होता है। व्यंजन के समान इनकी भी मात्रा नहीं होती। इसीलिए इन्हें व्यंजनों में रखा जाता है। जैसे—(य, व)।

ये दोनों अन्तःस्थ अथवा अर्धस्वर कहलाते हैं।

(ग) स्वर-तंत्रियों के आधार पर—व्यंजनों का उच्चारण करते समय स्वर-तंत्रियों की भी गतिशीलता में भिन्नता रहती है। स्वर-तंत्रियों की गतिशीलता के आधार पर हिन्दी व्यंजनों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(अ) घोष व्यंजन (आ) अघोष व्यंजन।

(अ) घोष व्यंजन—जिन व्यंजनों का उच्चारण करते समय स्वर-यंत्र में स्थित स्वर तंत्रियाँ इतनी निकट आ जाएँ कि बाहर निकलने वाली प्रश्वास वायु में थोड़ा कम्पन हो, तो उन व्यंजनों को घोष व्यंजन कहते हैं। प्रत्येक वर्ग का तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, व्यंजन अर्थात् ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म—घोष व्यंजन हैं।

(आ) अघोष व्यंजन—जिन व्यंजनों का उच्चारण करते समय स्वर-यंत्र में स्थित स्वर-तंत्रियों में परस्पर दूरी के कारण कम्पन न हो, उन्हें अघोष व्यंजन कहते हैं। पाँचों वर्गों (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग तवर्ग, पवर्ग) के पहले दो व्यंजन अघोष व्यंजन होते हैं यथा—क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ—ये सभी अघोष व्यंजन हैं।

(घ) प्राणत्व के आधार पर—यहाँ पर 'प्राण' का तात्पर्य वायु से है अर्थात् हिन्दी व्यंजनों का उच्चारण करते समय बाहर निकलने वाली प्रश्वास की वायु की मात्रा कम या अधिक होती रहती है। वायु की इस मात्रा के आधार पर भी हिन्दी व्यंजनों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है—

(अ) अल्पप्राण व्यंजन (आ) महाप्राण व्यंजन।

(अ) अल्पप्राण व्यंजन—जिन व्यंजनों का उच्चारण करते समय प्रश्वास की वायु कम मात्रा में बाहर निकले, उन्हें अल्पप्राण व्यंजन कहते हैं। हिन्दी के पाँचों वर्गों अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग का पहला, तीसरा व पाँचवां व्यंजन अर्थात्—क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म—अल्पप्राण व्यंजन हैं।

(आ) महाप्राण व्यंजन—वे व्यंजन जिनका उच्चारण करते समय प्रश्वास की वायु अधिक मात्रा से बाहर निकलती है, उन्हें महाप्राण व्यंजन कहते हैं। हिन्दी के पाँचों वर्गों अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग का दूसरा व चौथा व्यंजन अर्थात् ख, घ, छ, झ, ठ, थ, ध, फ, भ—महाप्राण व्यंजन हैं।

(ङ) मांसपेशियों की दृढ़ता के आधार पर—हिन्दी व्यंजनों के उच्चारण के समय मुख की मांसपेशियाँ कभी दृढ़ हो जाती हैं, कभी शिथिल, कभी सामान्य स्थिति में रहती हैं। इसी प्रकार हिन्दी व्यंजनों में तीन प्रकार हैं—

1. दृढ़ व्यंजन, 2. शिथिल व्यंजन, 3. मध्यम व्यंजन।

1. **दृढ़ व्यंजन**—जिन व्यंजनों के उच्चारण के समय मुख की मांसपेशियों में दृढ़ता होती है, उन्हें दृढ़ व्यंजन कहते हैं। जैसे—ट, भ, ढ, ड।

2. **शिथिल व्यंजन**—जिन व्यंजन के उच्चारण के समय मुख की मांसपेशियों में शिथिलता होती है, उन्हें शिथिल व्यंजन कहते हैं जैसे—क़, ग़, म़, प़, ड़, ल़।

3. **मध्यम व्यंजन**—जिन व्यंजनों के उच्चारण के समय मुख की मांसपेशियों में न दृढ़ता होती है न शिथिलता होती है। बल्कि मांसपेशियाँ, सामान्य अवस्था में होती हैं, उन्हें हम मध्यम व्यंजन कहते हैं। जैसे—च, ब, श आदि।

(च) संयुक्तता के आधार पर—इस आधार पर व्यंजनों के तीन वर्ग बन सकते हैं—

(i) संयुक्त व्यंजन—इन्हें मूल व्यंजन भी कहा जाता है जो व्यंजन अकेले स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होते हैं, उन्हें असंयुक्त व्यंजन कहते हैं। जैसे—क, च, ट, त, प, स आदि।

(ii) संयुक्त व्यंजन—जब दो भिन्न व्यंजन एक साथ प्रयुक्त होते हैं उनमें एक अर्ध तथा दूसरा पूर्ण होता है, उसे हम संयुक्त व्यंजन कहते हैं—

जैसे— क् + त (रक्त) प् + य (प्यारा)

न् + य (अन्य) द् + व (दिव्य) आदि।

(iii) द्वित्व—जब किसी शब्द में एक ही व्यंजन पहले आधा और फिर पूर्ण प्रयुक्त होता है, उसे द्वित्व व्यंजन कहते हैं। जैसे—बच्चा, पत्ता, गप्पी, पक्का आदि।

परम्परागत संयुक्त व्यंजन—

हिन्दी में कुछ ऐसे व्यंजन भी हैं जो संस्कृत भाषा से परम्परागत रूप से प्राप्त हुए हैं जैसे—क्ष = क् + श, त्र = त् + र, ज्ञ = ज् + भ, श्र = श् + र।

व्यंजन तालिका : उच्चारण स्थान के आधार पर

	ओष्ठ्य	दन्तोष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालव्य	कण्ठ्य	जिह्वा-मूलीय	स्वर-तन्त्रीय
स्पर्श	प फ		त थ		ट ठ		क ख		
	ब भ		द ध		डढ		ग घ		
स्पर्श-संघर्षी						च छ			
संघर्षी		फ		ज, ज़		श्	क़	ग़ ख़	ह
		व्		स					
पर्श्विक			ल						
लुण्ठित					र				
उत्क्षिप्त					ड़ ढ़				
अनुनासिक	म		न		ण	ञ	ङ		
अर्धस्वर या		व्				य्			
अन्तस्थ									

◆◆◆

3.2 हिन्दी शब्द संरचना : उपसर्ग, प्रत्यय, समस्त पद एवं उपसर्ग

1. हिन्दी शब्द संरचना का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए हिन्दी उपसर्ग एवं प्रत्ययों का विस्तारपूर्वक परिचय दीजिए। (Imp

अथवा

हिन्दी शब्द संरचना में उपसर्ग एवं प्रत्यय की भूमिका पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–हिन्दी शब्द संरचना–शब्द संरचना का शाब्दिक अर्थ है–शब्द का निर्माण। प्रत्येक भाषा में अनेक शब्द अपने म रूप में मौजूद होते हैं। भाषा में मूल रूप से मौजूद ये शब्द रूढ़ शब्द कहलाते हैं। परंतु इनकी संख्या इतनी कम होती है कि भी भाषा में केवल इनके प्रयोग से संपूर्ण भाषिक अभिव्यक्ति संभव नहीं हो पाती। अतः प्रत्येक भाषा में इन मूल शब्दों के अ या पीछे दूसरे शब्द या शब्दांश जोड़कर नए शब्दों का निर्माण किया जाता है। भाषा में मूल शब्दों के साथ नए शब्द या शब्द जोड़कर नए शब्द निर्माण की प्रक्रिया **शब्द संरचना** कहलाती है। हिन्दी भाषा में भी यह प्रक्रिया मौजूद है। हिन्दी भाषा में शब्दों की रचना प्रायः निम्नलिखित तीन माध्यमों से होती है–

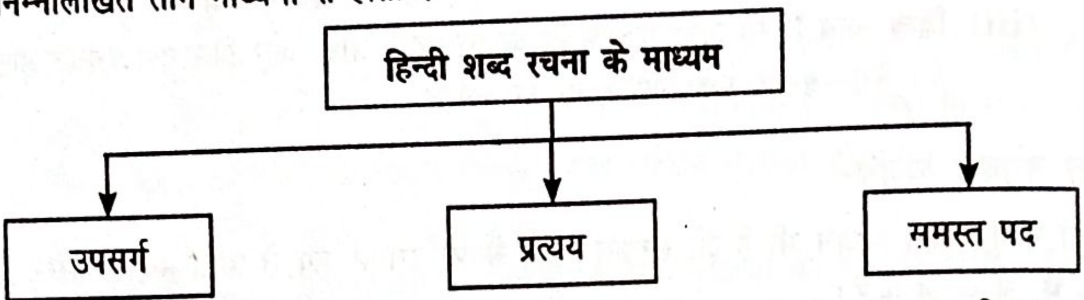

(क) हिन्दी शब्द संरचना में उपसर्ग की भूमिका–हिन्दी शब्द संरचना में उपसर्ग की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है। उप से अभिप्राय उन शब्दांशों से होता है, जो किसी शब्द के आरंभ में लगकर उसके अर्थ को बदल देते हैं, बढ़ा देते हैं अथ विपरीत कर देते हैं। हिन्दी भाषा में शब्द निर्माण हेतु हिन्दी के ही नहीं संस्कृत एवं अन्य विदेशी भाषाओं के भी उपस का प्रयोग होता है।

1. संस्कृत के उपसर्ग–इन्हें तत्सम उपसर्ग भी कहते हैं क्योंकि ये उपसर्ग पहले संस्कृत भाषा में प्रयुक्त होते थे तथा वे उस भाषा से उसी रूप में हिन्दी-भाषा में स्वीकार किए गए हैं। हिन्दी में प्रचलित प्रमुख तत्सम उपसर्ग निम्नलिखित हैं त उनके अर्थ व उदाहरण भी दिए गए हैं–

उपसर्ग	अर्थ	उदाहरण
अ	प्रतिकूल	अहित, अधर्म
	रहित, हीन, अभाव	अदृश्य, अज्ञान, अशांत
	निषेध	अखाद्य, अपेय
अधि	अधिक, श्रेष्ठ	अधिमास, अधिपति, अधिनायक
अन्	प्रतिकूल, अभाव	अनधिकार, अनुपयोगी।
अनु	पीछे, बाद	अनुरूप, अनुकरण, अनुकूल, अनुक्षण, अनुवाद।
अप	बुरा, अनुचित, विपरीत	अपमान, अपयश, अपव्यय।
आ	तक	आजीवन, आजन्म, आपादमस्तक।
कु	बुरा, अशुभ	कुमार्ग, कुचाल, कुकर्म, कुपात्र।
दुर्/दुः	बुरा, कठिन, अभाव	दुर्दिन, दुर्बल, दुर्लभ, दुःशासन।
वि	बिना, विशेष, विलोम आधिक्य	विज्ञान, विदेश, वियोग, विकराल, विभाग आदि।

उपसर्ग	अर्थ	उदाहरण
प्र	विशेष, बड़ा	प्रख्यात, प्रबल, प्राचार्य, प्राध्यापक आदि।
स	सहित, अच्छा, एक ही	सपरिवार, सजीव, सकुशल, सपूत, सजातीय।
सु	अच्छा	सुदिन, सुयश, सुपुत्र, सुसंस्कृत आदि।
अंतः, अन्तर	भीतर, सभी, बाहर	अंतःसाक्ष्य, अंतर्दशा, अंतर्राष्ट्रीय, अंतर्जातीय आदि।
आवि	बाहर	आविर्भाव, आविर्भूत, आविष्कार आदि।
उत्	अधिक, मुक्त, प्रकट, अक्षर	उत्तप्त, उद्दंड (उत् + दंड), उद्घोष, उत्कर्ष आदि।
निर्	नहीं, निषेध	निराहार, निरंकुश, निरपराध, निरभिमान आदि।

2. हिन्दी के उपसर्ग–कुछ उपसर्ग ऐसे हैं जो हिन्दी के अपने उपसर्ग हैं अर्थात् वे न तो संस्कृत से और न ही विदेशी भाषा से ग्रहण किए गए हैं। हिन्दी के प्रमुख उपसर्ग निम्नलिखित हैं–

उपसर्ग	अर्थ	उदाहरण
अन	प्रतिकूल, परे	अनरीति, अनगिनत, अनमोल आदि।
उ	ऊपर, ऊँचा	उथला, उतरना, उभरना।
उन्	एक कम, एक नहीं	उनत्तीस, उनसठ, उनहत्तर आदि।
औ	हीन, नीचे, दूर	औगुन, औघट, औघड़ आदि।
क	बुरा	कपूत
नि	रहित	निहत्था, निडर, निकम्मा, निपूती
पर	दूसरी पीढ़ी का, पराया	परोपकार, परदादा, परनाना, परपोता, परलोक।
दुः	बुरा	दुराचार, दुर्बल, दुकाल, दुराज आदि।

3. विदेशज के उपसर्ग–हिन्दी भाषा में अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के उपसर्गों का प्रयोग करके भी शब्द-रचना की जाती है। परन्तु ध्यातव्य है कि अंग्रेजी उपसर्ग लगकर प्रायः अंग्रेजी भाषा के शब्द ही बनते हैं जबकि फारसी, अरबी आदि भाषाओं के उपसर्ग हिन्दी शब्दों के साथ भी प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी के प्रमुख विदेशज उपसर्ग निम्नलिखित हैं–

4. फारसी व अरबी भाषा के उपसर्ग–

उपसर्ग	अर्थ	उदाहरण
बा	सहित, के साथ	बाअदब, बाकायदा आदि।
बे	बिना, रहित	बेईमान, बेरहम, बेचारा, बेबुनियादी, बेताब, बेनकाब आदि।
ला	बिना, रहित	लाइलाज, लावारिस, लाजवाब आदि।
सर	मुख्य	सरपंच, सरताज।
हम	एक, समान	हमवतन, हमउम्र, हमदर्द, हमराह, हमराज आदि।
ब	सहित, तुलना में	बखूबी, बनाम आदि।
ना	नहीं	नासमझ, नालायक, नाचीज आदि।
गैर	निषेध	गैर जरूरी, गैर हाजिर, गैर सरकारी आदि।

उपसर्ग	अर्थ	उदाहरण
वाइस	उप	वाइस प्रेसिडेंट, वाइस चांसलर आदि।
सब	उप	सब-डिविजन, सब-रजिस्ट्रार आदि।
इम	निषेध	इम्पोसिबल, इममोर्टल, इम्योचर आदि।
प्री	पहले का	प्री-मैडिकल, प्री-म्योचर आदि।
पोस्ट	बाद का	पोस्ट-मार्टम, पोस्ट-पेड आदि।

(ख) हिन्दी शब्द संरचना में प्रत्यय की भूमिका—प्रत्यय भाषा के ऐसे सार्थक लघुत्तम खण्ड हैं जिनका कभी स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता, बल्कि ये शब्द के अंत में लगकर एक नवीन शब्द का निर्माण करते हैं। हिंदी भाषा में प्रत्ययों के प्रयोग से नए शब्दों का सर्वाधिक निर्माण होता है। हिन्दी भाषा में प्रत्यय द्वारा शब्द-निर्माण की प्रक्रिया संस्कृत-भाषा के शब्द-निर्माण प्रक्रिया से प्रभावित है।

संस्कृत भाषा में दो प्रकार के प्रत्यय होते हैं—**कृत् प्रत्यय** तथा **तद्धित प्रत्यय**। कृत् प्रत्यय केवल क्रिया की मूल धातु के साथ जुड़कर नए शब्द का निर्माण करते हैं। ये नए शब्द प्रायः संज्ञा या विशेषण बनते हैं। चूँकि ये कृत् प्रत्यय से बनते हैं, अतः इन नए शब्दों को **कृदंत** कहा जाता है।

तद्धित प्रत्यय प्रायः संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम तथा अव्यय के बाद लगते हैं और इनसे बनने वाले नए शब्द या तो संज्ञा या विशेषण शब्द होते हैं।

परन्तु हिन्दी भाषा में प्रयुक्त होने वाले प्रत्ययों को कृत् प्रत्यय व तद्धित प्रत्यय में वर्गीकृत करना व्यर्थ है। इसका कारण यही है कि हिन्दी में कुछ ऐसे प्रत्यय हैं जो इन दोनों ही वर्गों में आते हैं; जैसे—आऊ—खाऊ, चलाऊ (कृदंत), पंडिताऊ (तद्धित)। अतः हिन्दी के प्रत्ययों को हम अलग से मुख्यतः चार निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं—

1. तत्सम प्रत्यय
2. तद्भव प्रत्यय
3. देशज प्रत्यय
4. विदेशज प्रत्यय

1. तत्सम प्रत्यय—वे प्रत्यय जो संस्कृत भाषा के प्रत्ययों से यथावत् रूप में ग्रहण किए गए हैं, उन्हें तत्सम प्रत्यय कहते हैं। हिन्दी के कुछ प्रमुख तत्सम प्रत्ययों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

प्रत्यय	अर्थ	उदाहरण
आ	स्त्री प्रत्यय	अध्यापिका, सुता, प्रिया आदि।
आनी	स्त्री प्रत्यय	देवरानी, सेठानी, चौधरानी आदि।
आलु	विशेषण प्रत्यय	श्रद्धालु, कृपालु, दयालु आदि।
इत	विशेषण प्रत्यय	हर्षित, शंकित, पुष्पित आदि।
कार	करने वाला	चित्रकार, साहित्यकार आदि।
ज	जन्मा हुआ	पंकज, जलज, अंडज आदि।
ज्ञ	जानने वाला	अल्पज्ञ, सर्वज्ञ, विज्ञ, अज्ञ आदि।
तः	क्रियाविशेषण प्रत्यय	सामान्यतः, स्वतः, अंशतः आदि।
तर	तुलनात्मक बोधक प्रत्यय	निम्नतर, उच्चतर आदि।

4 नागरी लिपि और हिन्दी प्रचार-प्रसार

आलोचनात्मक प्रश्न

4.1 हिंदी : प्रचार-प्रसार में प्रमुख व्यक्तियों का योगदान तथा प्रमुख संस्थाओं का योगदान

1. हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में प्रमुख व्यक्तियों एवं प्रमुख संस्थाओं के योगदान पर प्रकाश डालिए। **(Imp.)**

अथवा

हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार में जिन व्यक्तियों तथा संस्थाओं का योगदान रहा है, उन पर एक सारगर्भित लेख लिखिए।

उत्तर–(क) हिंदी के प्रचार प्रसार में प्रमुख व्यक्तियों का योगदान–हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में व्यक्तिगत तथा संस्थागत दो स्तरों पर प्रचार-प्रसार हुआ। लगभग 150 वर्षों तक असंख्य महापुरुषों ने हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सर्वप्रथम पंडित मदन मोहन मालवीय के नाम का उल्लेख किया जा सकता है। उनके मन में हिन्दी भक्ति की चेतना थी। 1917 ई. में उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की और वहाँ हिन्दी को सभी के लिए अनिवार्य विषय के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए 'हिन्दुस्तान', 'अभ्युदय', 'मर्यादा' जैसे प्रतिष्ठित हिन्दी समाचार-पत्रों का सम्पादन और प्रकाशन किया। यही नहीं, उन्होंने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना भी की साथ ही सरकारी कार्यालयों में हिन्दी के प्रयोग का अभियान ही चलाया।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने भी हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सन् 1930 में उन्होंने 'हिन्द केसरी' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ करके हिन्दी प्रचार-प्रसार के आंदोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। एक स्थल पर वे लिखते भी हैं–**"हिन्दी राष्ट्रभाषा बन सकती है........मेरी समझ में हिन्दी भारत की सामान्य भाषा होनी चाहिए यानि समस्त समाज में बोली जाने वाली भाषा होनी चाहिए।"** **स्वामी दयानन्द सरस्वती** ने भी हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने हिन्दी के माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार किया और हिन्दी की महत्ता को स्वीकार किया। **महात्मा गाँधी** ने भी हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार पर बल दिया। उन्होंने कहा कि राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है। हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने अहिन्दी भाषी प्रान्तों में दक्षिणी हिन्दी प्रचार सभा, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा, हिन्दी-हिन्दुस्तानी प्रचार सभा आदि की स्थापना की। इसी प्रकार **श्रीमती एनी बेसेंट** ने भी हिन्दी के राष्ट्रीय और सांस्कृतिक महत्त्व को समझा। उनका स्पष्ट कहना था–**"हिन्दी सीखने का कार्य ऐसा त्याग है जिसे दक्षिण भारत के निवासियों को भारत की एकता के लिए करना चाहिए।"** इसके साथ-साथ ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आदि ने भी हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। भारतेन्दु मण्डल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, राष्ट्र भाषा प्रचार समिति वर्धा आदि संस्थाओं ने भी हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में योगदान देने वालों में से पंडित मदनमोहन मालवीय का स्थान सर्वोच्च है। यह कहना गलत न होगा कि पंडित जी का जन्म ही हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए हुआ। इनके जीवन के दो ही उद्देश्य थे–एक तो देश को

आजाद करवाना तथा दूसरा हिन्दी को राजभाषा, राष्ट्रभाषा का दर्जा दिलवाना। सन् 1893 में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में पंडित जी ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। एक घटना के द्वारा हम हिन्दी के प्रति इनकी त्याग की भावना को समझ सकते हैं। 1868 ई. में ब्रिटिश सरकार ने देवनागरी के स्थान पर रोमन लिपि का प्रयोग करने का प्रस्ताव रखा तो उस समय मालवीय जी ने न केवल इस बात का विरोध किया, बल्कि 'कोर्ट करैक्टर एण्ड प्राइमरी एजुकेशन इन नार्थ वेस्ट प्रोविन्सेज' लिखकर रोमन लिपि को अव्यावहारिक सिद्ध किया और उसकी वैज्ञानिकता को भी अप्रमाणिक सिद्ध किया। यही नहीं, उन्होंने साठ हजार हस्ताक्षरों वाला निवेदन-पत्र तत्कालीन गवर्नर को सौंपकर उसे रोमन लिपि के विरुद्ध भारतीय जनता के गुस्से से परिचित कराया और तत्कालीन सत्ता को जनभाषा से परिचित भी कराया। मालवीय जी ने हिन्दी को अदालतों में प्रवेश दिलाकर हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किए जाने की आधारशिला रखी। हिन्दी भाषा के प्रसार-प्रचार के लिए 'मर्यादा', 'अभ्युदय', 'हिन्दुस्तान' आदि समाचार-पत्रों का प्रकाशन और सम्पादन किया। दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार लिए उन्होंने दक्षिण भारत के चारों प्रान्तों का दौरा किया। उनकी हिन्दी सेवा के सम्बन्ध में **डॉ. ज्ञानवती दरबार** ने उचित ही लिखा है—**"हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्थाओं की स्थापना द्वारा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अन्य शिक्षण-केन्द्रों के निर्माण के द्वारा सार्वजनिक रूप से हिन्दी आन्दोलन का नेतृत्व कर उसे सरकारी दफ्तरों में स्वीकृत कराके मालवीय जी ने हिन्दी की जो सेवा की, उसे साधारण नहीं कहा जा सकता। उनके प्रयत्नों से हिन्दी को यश, विस्तार और उच्च पद मिला।"** आगे चलकर मदन मोहन मालवीय जी की प्रेरणा से सम्पूर्ण उत्तर भारत में हिन्दी भाषा का समुचित प्रचार-प्रसार होने लगा और विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभागों की स्थापना हुई। यही नहीं, स्कूलों और महाविद्यालयों में भी हिन्दी भाषा पढ़ाई जाने लगी।

(ख) हिन्दी प्रचार-प्रसार में प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं का योगदान

उत्तर—हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए समय-समय पर अनेक सामाजिक और साहित्यिक संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इनमें सर्वप्रथम भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकारों की चर्चा की जा सकती है। भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य का प्रवेश द्वार है। भारतेन्दु ने साहित्यकारों का एक ऐसा मण्डल बनाया जो एक ओर तो हिन्दी साहित्य था निर्माण कर रहा था तो दूसरी ओर हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार कर रहा था। इन साहित्यकारों में प्रताप नारायण मिश्र, बाल कृष्ण भट्ट, बदरी नारायण चौधरी, श्री निवास दास तथा बाल मुकुन्द गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वयं भारतेन्दु ने हिन्दी भाषा का समर्थन करते हुए कहा—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
पै निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल।।

भारतेन्दु मण्डल के बाद नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस सभा की स्थापना 10 मार्च, 1883 ई. को हुई। बाबू श्याम सुन्दर दास, श्री गोपाल दास खत्री और पंडित राम नारायण इस सभा के संरक्षक थे। श्री मदन मोहन मालवीय ने इस सदन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस सभा ने हिन्दी साहित्य के उच्चकोटि की पुस्तकों के प्रकाशन का दायित्व संभाला। कामना प्रसाद गुप्त द्वारा लिखित हिन्दी व्याकरण तथा किशोरी वाजपेयी द्वारा रचित हिन्दी शब्दानुशासन इस समय के महान् ग्रंथ हैं। इसी प्रकार हिन्दी शब्द सागर तथा हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास सभा के गौरव ग्रंथ हैं। इसके बाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया गया। इस संस्थान का प्रथम अधिवेशन सन् 1910 में मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में हुआ। इस संस्थान द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा देवनागरी के प्रचार-प्रसार पर बल दिया गया और यह भी प्रयास किया गया कि हिन्दी भाषा का प्रयोग शिक्षण संस्थाओं तथा न्यायालयों में किया जाए। इस संस्थान ने राष्ट्रभाषा के नाम से एक संदेश पत्र भी प्रकाशित किया। मानक हिन्दी कोष इसका गौरव ग्रंथ है। आगे चलकर गाँधी जी की प्रेरणा से दक्षिण भारतीय हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना हुई। यह सभा लम्बे काल से हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही है। श्री राजगोपालाचार्य द्वारा इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया गया। आगे चलकर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा की स्थापना हुई। इस समिति का प्रमुख उद्देश्य था हिन्दी भाषा को समृद्ध करना और हिन्दी भाषा का प्रचार करना। इस समिति द्वारा राष्ट्रभाषा नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ किया गया। इसी प्रकार गुजरात पीठ अहमदाबाद मुम्बई 'हिन्दी विद्यापीठ महाराष्ट्र राष्ट्रसभा पुणे' हिन्दी विद्यापीठ देवधर तथा असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति आदि संस्थाओं द्वारा भी हिन्दी प्रचार-प्रसार का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

हिन्दी प्रचार-प्रसार में निम्नलिखित संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है—

1. हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में ब्रह्म समाज का योगदान—सामाजिक जागरण के क्षेत्र में ब्रह्म समाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। ब्रह्म समाज तथा कुछ अन्य संस्थाओं ने समाज में व्याप्त जड़ परम्पराओं, कुरीतियों तथा आडम्बरपूर्ण बाह्यचारों को दूर करने का प्रयास किया और भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का प्रचार-प्रसार किया। राजा राम मोहन राय ने सन् 1828 ई. में कलकत्ता में ब्रह्म समाज की स्थापना की। वे एक उदार हृदय और भारतीय संस्कृति के अनन्य पुजारी थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि ईसाई पादरी ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार करके हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन करना चाहते हैं। उनके विरोधस्वरूप उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना करके भारतवासियों में राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक चेतना को जगाने का प्रयास किया। राजा राम मोहन राय की यह विशेषता थी कि वे पश्चिमी सभ्यता से भी प्रभावित थे। उन्होंने आधुनिक विचार चिंतन को स्वीकार करते हुए भारतीय और पाश्चात्य मूल्यों को जोड़ने का प्रयास किया।

भले ही वे अंग्रेजी भाषा को एक महत्त्वपूर्ण भाषा मानते थे, परन्तु राष्ट्रीय स्तर पर उन्होंने हिन्दी भाषा का ही समर्थन किया। उनका विचार था कि हिन्दी भाषा में अखिल भारतीय भाषा बनने की क्षमता है। उनके विचारानुसार हिन्दी ही अपने साहित्य के द्वारा देश में एकता को उत्पन्न कर सकती है। फलस्वरूप उन्होंने कलकत्ता से 'बंगदूत' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। इस पत्रिका में हिन्दी, अंग्रेजी, बांग्ला तथा फारसी के प्रश्न होते थे। लेकिन उल्लेखनीय बात यह है कि वे स्वयं हिन्दी में लिखते थे और अन्य लोगों को भी हिन्दी में लिखने की प्रेरणा देते थे। बंगाल एक अहिन्दी भाषी क्षेत्र है, लेकिन इस क्षेत्र में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनसे प्रेरणा प्राप्त करके बंगाल के कुछ अन्य सामाजिक कार्यकर्त्ता भी समाज सुधार और हिन्दी भाषा का प्रचार करने लगे। राजा राम मोहन राय से प्रेरणा प्राप्त करके नवीन चंद्र राय ने पंजाब में जाकर 1867 ई. में **'ज्ञान प्रदायिनी'** नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया। साथ ही उन्होंने पंजाब में हिन्दी आन्दोलन को सशक्त बनाया। ब्रह्म समाज के एक अन्य सदस्य भूदेव मुकर्जी ने बिहार की शिक्षा प्रणाली में हिन्दी के प्रयोग पर बल दिया। यही नहीं उन्होंने अपनी पुस्तक 'आकार प्रबन्ध' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हिन्दी एक सर्व गुण सम्पन्न भाषा है और यह पूरे देश की सम्पर्क भाषा बनने में समर्थ है। इस प्रकार ब्रह्म समाज तथा उसके सदस्यों ने हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

2. हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में आर्य समाज का योगदान—सामाजिक जागरण के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती का योगदान विशष महत्त्व रखता है। उन्होंने 1875 ई. में मुम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। धीरे-धीरे आर्य समाज की शाखाएँ सम्पूर्ण उत्तर भारत में स्थापित होने लगीं। आर्य समाज ने जहाँ एक ओर जड़-परम्पराओं के उन्मूलन का प्रयास किया, वहाँ दूसरी ओर भारत में स्वराज्य स्थापना, हिन्दू धर्म तथा हिन्दी भाषा को प्रतिष्ठत करने के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। आर्य समाज ने हिन्दी को आर्य भाषा घोषित किया और जो बीस नियमों की स्थापना की, उनमें पाँचवें नियम में हिन्दी के पढ़ने-पढ़ाने पर विशेष बल दिया गया है। आर्य समाज वैदिक धर्म का प्रचार करता था लेकिन साथ ही विधवाओं के विवाह और नारी शिक्षा पर भी बल देता था। 24 जनवरी, 1875 ई. में लाहौर में आर्य समाज की स्थापना हुई। उल्लेखनीय बात यह है कि समाज के सभी सम्मेलनों में हिन्दी भाषा में ही कार्यवाही होती थी। आर्य समाज के नेता हिन्दी भाषा में भाषण देतें थे और हिन्दी में वाद-विवाद करते थे। आरम्भ में आर्य समाज ने देश में गुरुकुलों, कन्या पाठशालाओं तथा महिला महाविद्यालयों की स्थापना की। इन सभी शैक्षणिक संस्थानों में हिन्दी भाषा का पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य कर दिया गया। फलस्वरूप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में हिन्दी में ही विज्ञान की शिक्षा दी जाने लगी। आगे चलकर उत्तर भारत के अनेक नगरों तथा कस्बों में डी.ए.वी. स्कूलों तथा महाविद्यालयों की स्थापना की गई, जिनमें हिन्दी भाषा के पठन-पाठन पर बल दिया जाने लगा। आर्य समाज ने हिन्दी में अनेक साप्ताहिक तथा मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती को हिन्दी भाषा से विशेष प्रेम था। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना हिन्दी भाषा में ही की। स्वामी जी के हिन्दी प्रेम के बारे में **इन्द्रविद्यावाचस्पति** ने लिखा भी है—**"महर्षि ने लोक भाषा को उपदेश का साधन बनाकर न केवल अपने मिशन को लोकप्रिय और व्यापक बना दिया बल्कि भविष्य में राष्ट्रभाषा और राजभाषा बनने वाली आर्य भाषा को पुष्टि देकर राष्ट्र के स्वाधीनता भवन की दृढ़ बुनियाद भी रख दी।"** स्वामी जी ने गुजरात में ही हिन्दी भाषा का समुचित प्रचार-प्रसार किया और उनके सभी अनुयायी हिन्दी भाषा का प्रयोग करने लगे। आज आर्य समाज के प्रयासों से ही हिन्दी भाषा अत्यधिक लोकप्रिय होती जा रही है। सिंगापुर में जिस आर्य समाज सभा की स्थापना की गई है, वह भारतीय मूल के नागरिकों को हिन्दी भाषा पढ़ाती है। ऐसा ही अन्य विदेशों में भी हो रहा है। आर्य सभा ही हिन्दी दिवस को प्रतिवर्ष बड़े धूमधाम से मनाती है।

◆◆◆

4.2 नागरी लिपि का नामकरण और विकास

(Most Imp.)

1. नागरी लिपि के नामकरण और विकास पर प्रकाश डालिए।

अथवा

नागरी लिपि के नामकरण और विकास पर एक लेख लिखिए।

उत्तर–नागरी लिपि–नागरी अथवा देवनागरी लिपि का जन्म ब्राह्मी की उत्तरी शैली के एक प्राचीन रूप नागरी लिपि से हुआ। ई. पूर्व 5वीं शती से 350 ई. वीं तक ब्राह्मी लिपि एक राष्ट्रीय लिपि मानी जाती थी। परंतु 350 ई. के बाद इसकी दो शैलियाँ हो गईं–उत्तरी ब्राह्मी तथा दक्षिणी ब्राह्मी। इन दोनों लिपियों से भारत की अनेक प्राचीन व नवीन लिपियों का विकास हुआ।

उत्तरी शैली से विकसित पाँच प्राचीन लिपियाँ–गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, प्राचीन नागरी लिपि, शारदा लिपि तथा बँगला लिपि हैं। आधुनिक काल में विकसित टाकरी, सिरमौरी, डोगरी, जीनसारी, कुल्लुई, मुलतानी तथा गुरुमुखी आदि लिपियों का संबंध भी ब्राह्मी की उत्तरी शैली से है।

आज राष्ट्रभाषा हिंदी की लिपि देवनागरी है। यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा अन्य लोकभाषाओं की भी लिपि रही है।

देवनागरी लिपि का नामकरण–देवनागरी लिपि के नामकरण को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद हैं। प्रत्येक विद्वान ने अपने दृष्टिकोण से इसके नामकरण पर प्रकाश डाला है–

1. कुछ विद्वानों का विचार है कि गुजरात के नागर ब्राह्मण इस लिपि का विशेष रूप से प्रयोग करते थे। इसलिए इसका नाम नागरी या देवनागरी लिपि पड़ गया। परंतु अधिकांश विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं, क्योंकि हमें ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला जिसके आधार पर इस मान्यता को स्वीकार किया जा सके। अतः यह नामकरण सही नहीं कहा जा सकता।
2. कुछ अन्य विद्वानों का यह कथन है कि देववाणी संस्कृत भाषा इसी लिपि में लिखी जाती थी। अतः इसका नाम देवनागरी पड़ गया। यहाँ 'देव' शब्द के औचित्य को तो स्वीकार किया जा सकता है, परंतु 'नागरी' शब्द की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। अतः यह मत सही नहीं हो सकता।
3. कुछ अन्य विद्वानों का यह मत है कि यह लिपि कुछ अन्य विशेष नगरों में प्रचलित थी। नगर की लिपि होने के कारण इसका नाम नागरी लिपि पड़ गया होगा। परंतु इस मत को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए हमें कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। अतः देवनागरी लिपि के नामकरण का यह आधार सही प्रतीत नहीं होता।
4. कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि 'ललित विस्तर' नामक ग्रंथ में अन्य लिपियों के साथ नाग लिपि का भी उल्लेख किया गया है। नाग से ही नागरी शब्द का विकास हुआ होगा, ऐसा कुछ विद्वानों का विचार है परंतु यह मत भी तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।
5. श्री राधेश्याम शास्त्री का कथन है कि देवताओं की मूर्तियाँ बनाने से पहले उनकी पूजा सांकेतिक चिह्नों द्वारा होती थी। ये स्थल देवनगर कहलाता था और देवनगर के मध्य ही सांकेतिक चिह्न बनाए जाते थे। अतः देवनगर के मध्य उनका स्थान होने के कारण देवनागरी लिपि का विकास हुआ। परंतु यह मत भी सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि हमारे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं हैं।
6. कुछ अन्य विद्वानों का यह कथन है कि इस लिपि का प्रचलन देवनगरी काशी में सबसे पहले हुआ। प्राचीन काल में काशी को ही देवनगर कहा जाता था। परंतु इसके बारे में भी कोई सही प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ।
7. एक अन्य विचार के अनुसार मध्य युग में 'नागर' नाम की स्थापत्य शैली थी। इस शैली में चतुर्भुजी आकृतियाँ होती थीं। इसी प्रकार दो अन्य शैलियाँ थीं–द्रविड़ और बेसर। द्रविड़ शैली की आकृतियाँ अष्टभुजी या सप्तभुजी होती थीं। लेकिन बेसर की वृत्ताकार होती थी। नागरी लिपि में चतुर्भुजी अक्षरों की विविधता है। अतः इसे नागरी लिपि कहा गया, लेकिन यह मत भी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव के कारण मान्य नहीं है।

8. एक अन्य विद्वान के अनुसार तांत्रिक चिह्न देवनागर से क्षमता रखते है। इसीलिए इसे [illegible] गया।
9. कुछ विद्वानों ने इस लिपि का संबंध दक्षिण भारत की 'नन्दिनागरी' से जोड़ने का प्रयास किया। शायद इसका संबंध नन्दिनगर नामक राजधानी से रहा हो, जोकि दक्षिणी भारत में था।

उपर्युक्त विचारों का विवेचन करने के बाद डॉ. धीरेंद्र वर्मा ने यह निष्कर्ष निकाला कि इस लिपि के लिए देवनागरी या नागरी नाम देने के पीछे कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। डॉ. बाबूराम सक्सेना ने भी कहा है कि नागरी नाम की व्युत्पत्ति अभी तक निश्चित न हो सकी। डॉ. भोलानाथ तिवारी भी इसी मत का समर्थन करते हैं।

देवनागरी लिपि का विकास

इस मत से तो सभी विद्वान सहमत हैं कि नागरी लिपि का विकास ब्राह्मी लिपि से हुआ। 9वीं शताब्दी से लेकर आज तक नागरी लिपि के बारे में कोई वैज्ञानिक कार्य नहीं हुआ। फिर भी ब्राह्मी लिपि में देवनागरी के कुछ लक्षण देखे जा सकते हैं। सन् 350 ई. में ब्राह्मी लिपि में कुछ परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों में ब्राह्मी को संतुलित करने का प्रयास किया गया। इस काल की प्रमुख विशेषता यह है कि इस काल की लिपि में पाई जाने वाले लिपि चिह्नों का विकास देखा जा सकता है। जो आगे चलकर देवनागरी लिपि की प्रमुख विशेषता कही जा सकती है। यह गुप्त काल की लिपि थी और इसे गुप्त लिपि भी कहा गया। इसके बाद कुटिल लिपि की चर्चा की जा सकती है जिसमें लिपि चिह्नों का भेद कम घटने लगा और लिपि चिह्नों को अलंकित करने का प्रयास किया गया। यही कारण है कि इसे कुटिल लिपि या अलंकित लिपि भी कहा जाता है। इसी कुटिल लिपि से देवनागरी लिपि का उद्भव हुआ। इसका उद्भव भले ही उत्तरी भारत में हुआ हो परंतु इसके प्राचीनतम नमूने दक्षिणी भारत में मिले है। इसका मतलब यह है कि देवनागरी अपने आरंभिक काल में उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक फैली थी। इस लिपि का सर्वप्रथम प्रयोग गुजरात गुर्जन वंशी राजा जयभट्ट के दानपत्र में देखा जा सकता है। यह दक्षिणी शैली की पश्चिमी लिपि में भी है। इस दान पत्र पर राजा राजभट्ट ने नागरी लिपि में हस्ताक्षर भी किए हुए हैं। 8वीं शताब्दी में राष्ट्र कूट के राजाओं ने भी इस लिपि का प्रचार-प्रसार किया। राष्ट्र कूट नरेशों तथा राजा दन्तिदुर्ग का सामनगढ़ में एक दान पत्र मिला है। यह भी नागरी लिपि में लिखा हुआ है। इसका समय 754 ई. है। इसके बाद तो सभी राष्ट्र कूट के राजाओं ने दानपत्रों में नागरी लिपि का प्रयोग किया। यही नहीं, देवगिरी के यादवों व विजयनगर के राजाओं ने भी इसी लिपि में दानपत्र लिखे। दूसरी ओर यह लिपि दक्षिण भारत में नन्दि नागरी के नाम से जानी जाती है। वहाँ के सभी संस्कृत ग्रंथ इसी लिपि में लिखे गए थे। महाराष्ट्र में इस लिपि को 'बालबौद्ध' लिपि कहा गया। बालबौद्ध लिपि के अनेक वर्ण आज की देवनागरी लिपि में उपलब्ध होते हैं।

ईसा की 8वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी तक देवनागरी लिपि मेवाड़ के गुहेलवंशी राजा मारवाड़ के परिहार राजा, मध्य प्रदेश के हैहय वंशी राजा, कन्नौज के गहरवार, गुजरात के सोलंकी तथा कलचरी राजाओं में यह लिपि अत्यधिक लोकप्रिय बनी रही। सच्चाई तो यह है कि 1000 ई. के आस-पास देवनागरी लिपि का काफी प्रचार हो चुका है। इस संबंध में हमें यह प्रमाण मिलता है कि कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा महेन्द्र पाल प्रथम के 898 ई. के दानपत्र में देवनागरी लिपि का ही प्रयोग हुआ है। परंतु यह भी एक सत्य है कि 10वीं शताब्दी तक इस लिपि पर कुटिल लिपि का प्रभाव पड़ने लगा था। यही कारण है कि 10वीं शताब्दी की देवनागरी लिपि के कुछ वर्ण आज की नागरी लिपि के अनेक वर्णों से भिन्न थे और वे कुटिल लिपि के वर्णों से मिलते-जुलते हैं। उदाहरण के रूप में, देवनागरी लिपि के अ, आ, ध,, म, ष और स की शिरो–रेखाएं कुटिल लिपि के इन्हीं वर्णों के समान दो भागों में विभक्त थीं, परंतु 11वीं शताब्दी तक आते–आते इन सभी वर्णों की शिरो रेखाएं मिलकर एक हो गईं। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि 11वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान लिपि के अधिक निकट है। 12वीं शताब्दी के बाद तो इसका वर्तमान रूप लगभग स्थिर हो गया, लेकिन इ और घ में अभी भी कुछ पुरानापन देखा जा सकता है। इस विवेचन से पता चलता है कि वर्तमान नागरी लिपि का विकास 10वीं शताब्दी की प्राचीन नागरी लिपि से हुआ है। जिस प्रकार संस्कृत से हिंदी का विकास हुआ, उसी प्रकार ब्राह्मी से नागरी लिपि का विकास हुआ। जिस प्रकार संस्कृत से प्राकृत अपभ्रंश दो भाषाएं विकसित हुईं और अपभ्रंश से हिंदी भाषा का विकास हुआ, उसी प्रकार ब्राह्मी लिपि से गुप्त और कुटिल दो प्रमुख लिपियां विकसित हुईं और उनसे देवनागरी लिपि विकसित हुई। देवनागरी लिपि के विकास चरण को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

1. ब्राह्मी लिपि–ईसा पूर्व 500 से 350 ई. तक

2. गुप्त लिपि–350 ई. से 500 ई. तक
3. कुटिल लिपि–500 ई. से 900 ई. तक
4. देवनागरी लिपि–900 ई. से अब तक

नीचे एक तालिका दी गई है जिसमें देवनागरी लिपि के विकास पर समुचित प्रकाश डाला गया है। यह तालिका डॉ. भोलानाथ तिवारी रचित भाषा विज्ञान से अंशतः ली गई है।

तालिका–1 स्वर

स्वर =	कुल ग्यारह	(अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ)
	स्वरों की मात्राएँ	ा, ि, ी, ु, ू, ृ, े, ै, ो, ौ
	आगत स्वर	(ऑ)
	आगत स्वर की मात्रा	(ॉ)

तालिका–2 व्यंजन

व्यंजन =	कवर्ग	=	क	ख	ग	घ	ङ		
	चवर्ग	=	च	छ	ज	झ	ञ		
	टवर्ग	=	ट	ठ	ड	ढ	ण	ड़	ढ़
	तवर्ग	=	त	थ	द	ध	न		
	पवर्ग	=	प	फ	ब	भ	म		
	ऊष्म	=	श	ष	स	ह			
	अन्तःस्थ	=	य	र	ल	व			
	आगत व्यंजन	=	ख़	फ़	ज़				
	संयुक्त व्यंजन	=	क्ष	त्र	ज्ञ	श्र			
	हलंत चिह्न	=	्						
	अनुस्वार	=	ं						
	अनुनासिक	=	ँ						

◆◆◆

4.3 नागरी लिपि की वैज्ञानिकता

1. देवनागरी एक वैज्ञानिक लिपि है। इस कथन की समीक्षा कीजिए। **(Imp.)**

अथवा

देवनागरी लिपि की विशिष्टताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता–देवनागरी लिपि भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लिपि है। संविधान में इसे राजलिपि भी कहा गया है। हिन्दी की कुछ बोलियाँ तथा उपभाषाएँ जैसे–मराठी, नेपाली आदि देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती हैं। संस्कृत का संपूर्ण साहित्य भी इसी में लिखा जाता है। यही नहीं, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का साहित्य भी इसी लिपि में उपलब्ध होता है। बहुत-सा पंजाबी तथा गुजराती साहित्य भी इसी लिपि में लिखा जा रहा है। कुछ विद्वानों का विचार है कि भारत में भावात्मक एकता उत्पन्न करने के लिए देश की सभी प्रादेशिक भाषाओं में इसी लिपि का प्रयोग किया जाना चाहिए। किसी भी लिपि के लिए यह पहली शर्त है कि वह पूर्णतः वैज्ञानिक हो तथा उसमें भाषा की सभी ध्वनियों को व्यक्त करने की योग्यता हो। उसके वर्ण अथवा अक्षर उच्चरित ध्वनियों में संवादात्मकता रखते हों। कहने का भाव यह है कि उसमें जो पढ़ा-लिखा जाए और उसके वर्णों का स्वरूप भ्रमपूर्ण नहीं होना चाहिए। यही नहीं, उसमें स्वरों तथा व्यंजनों का तथा व्यंजनों और व्यंजनों का परस्पर

संयोग सुगमतापूर्वक होना चाहिए। इन सभी दृष्टियों से देवनागरी लिपि प्राचीन होने पर भी पूर्णतः वैज्ञानिक है। विदेशी विद्वानों में ब्लूम फील्ड, हैनरी स्वीट, जे.आर. फर्च तथा डेनियल जोन्स आदि ने इस लिपि की अत्यधिक सराहना की है। आई. जक. पिटमैन ने तो यह स्पष्ट घोषणा की है कि देवनागरी लिपि में वैज्ञानिक लिपि की सभी विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। अतः संसार की यही एकमात्र लिपि है। देवनागरी लिपि की निम्नलिखित विशेषताएँ इसे वैज्ञानिक लिपि बनाती हैं–

1. **वर्णमाला की पूर्णता**–देवनागरी लिपि का उद्भव ब्राह्मी लिपि से हुआ है। ब्राह्मी लिपि में कुल 64 लिपि चिह्न थे। लेकिन देवनागरी में 52 लिपि चिह्न हैं। यह भी एक सच्चाई है कि नागरी लिपि के लिपिचिह्नों की संख्या संसार की सभी भाषाओं के लिपिचिह्नों से अधिक हैं। उदाहरण के रूप में अंग्रेजी में कुल 26 लिपिचिह्न हैं। परंतु जर्मन भाषा में 29 लिपिचिह्न हैं। परंतु इन सभी भाषाओं में सभी ध्वनियों के लिए लिपिचिह्न नहीं हैं। लेकिन देवनागरी लिपि में सभी ध्वनियों के लेखिम विद्यमान हैं।
2. **कर्मबद्धता**–देवनागरी लिपि में स्वर तथा व्यंजन वैज्ञानिक पद्धति से क्रमबद्ध हैं। इसमें स्वरों तथा संध्याक्षरों की संख्या 14 है और व्यंजनों की संख्या 35 है। इसमें क्ष, त्र, ज्ञ तथा श्र चार संयुक्त व्यंजन भी हैं। पुनः इस लिपि को समर्थ बनाने के लिए ड़, ढ़ क़, ख़, ग़, फ़ आदि लिपिचिह्नों को समाहित कर लिया गया है।
3. **वर्णमाला का वैज्ञानिक वर्गीकरण**–देवनागरी की वर्णमाला का वर्गीकरण भी वैज्ञानिक है। स्वर और व्यंजन इसके दो वर्ग हैं। स्वरों को आरंभ में तथा व्यंजनों को बाद में रखा गया है। स्वर वे वर्ण हैं जिनका उच्चारण अन्य किसी वर्ण की सहायता के बिना होता है। अर्थात् स्वर मुखविवर से उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की गूँज हैं। इसके विपरीत व्यंजन वे वर्ण हैं जिनका उच्चारण स्वर की सहायता से होता है। व्यंजनों का उच्चारण करते समय मुख विवर में वायु का पूर्ण या अपूर्ण विरोध होता है। जैसे–क, ख, ग, च, छ, ट, ठ आदि। मात्रा के आधार पर स्वरों के तीन प्रकार हैं–

    ह्रस्व – अ, इ, उ।
    दीर्घ – आ, औ, ई, ऊ।
    प्लुत – ओउम्।

    व्यंजनों का वर्गीकरण भी पूर्णतया वैज्ञानिक है। यह इस प्रकार है –

    कवर्ग – क, ख, ग, घ, ड़
    चवर्ग – च, छ, ज, झ, ञ
    टवर्ग – ट, ठ, ड, ढ, ण, ड़, ढ़
    तवर्ग – त, थ, द, ध, न
    पवर्ग – प, फ, ब, भ, म
    अन्तःस्थ – य, र, ल, व
    ऊष्म – श, ष, स, ह
    संयुक्त – क्ष, त्र, ज्ञ
    आगत व्यंजन – क़, ख़, ग़, ज़, घ़ आदि।
4. **लिपि की गतिशीलता**–नागरी लिपि की एक अन्य विशेषता यह है कि यह व्यावहारिक होने के साथ-साथ गत्यात्मक भी है। इसमें आवश्यकतानुसार नए लिपि चिह्नों को जोड़ लिया गया है। विशेषकर उर्दू के शब्दों के लिए नए लिपिचिह्न बना लिए गए हैं। जैसे–क़, ख़, ग़, घ़, फ़ आदि। इसी प्रकार अंग्रेजी के डॉ. शब्द के लिए ॉ स्वर को जोड़ लिया गया है। इस प्रकार यह लिपि भारत की सभी भाषाओं के लिए अनुकूल है।
5. **वैज्ञानिक वर्णों का निर्माण**–यह लिपि वर्णात्मक है। इसके वर्णों का लेखन व उच्चारण एक समान है, जबकि फारसी और रोमन लिपियों में यह समानता देखने को नहीं मिलती। उदाहरण के रूप में फारसी लिपि में जीम, दाल, तोए–जोए आदि वर्णों का उच्चारण तो किया जाता है, परंतु शब्दों में प्रयुक्त होने के बाद ये वर्ण ज, द, त़, ज़ की ध्वनि देते हैं। इसी प्रकार रोमन लिपि में H, T, S वर्ण च, ट, स की ध्वनि देते हैं। देवनागरी लिपि में इस प्रकार का विरोधाभास देखने को नहीं मिलता।

6. **प्रत्येक स्वनिम के लिए अलग लिपि चिह्न**–नागरी लिपि में प्रत्येक स्वनिम के लिए अलग लिपि चिह्न हैं। नागरी लिपि की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। रोमन लिपि में 'क' ध्वनि के लिए K, C, Q और ch चार लिपि चिह्न हैं और चारों मिलकर 'क' की ध्वनि उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार फारसी लिपि में स ध्वनि के लिए सीन, स्वाद तथा से तीन लिपि चिह्न हैं और तीनों से स ध्वनि उत्पन्न होती है। अतः रोमन लिपि और फारसी लिपि अपूर्ण लिपियाँ कही जाती हैं। परंतु नागरी लिपि न केवल पूर्ण लिपि है, बल्कि वैज्ञानिक लिपि भी है। क्योंकि इसमें प्रत्येक स्वर और व्यंजन के लिए अलग-अलग लिपि चिह्न हैं।

7. **स्वरों की ह्रस्व व दीर्घ मात्राओं की योजना**–देवनागरी लिपि की अगली विशेषता यह है कि इसमें अ को छोड़कर अन्य सभी स्वरों के लिए ह्रस्व, दीर्घ मात्राएं हैं, जिन्हें स्वरों तथा व्यंजनों के साथ जोड़कर शब्दों का निर्माण किया जाता है।

अ = ×	ऊ = ़
आ = ा	ए = े
इ = ि	ऐ = ै
ई = ी	ओ = ो
उ = ु	औ = ौ

8. **प्रत्येक वर्ण का उच्चारण**–देवनागरी लिपि की प्रमुख विशेषता यह भी है कि इसमें जो वर्ण लिखा जाता है, उसका उच्चारण होता है। परंतु रोमन लिपि में कुछ वर्ण लिखे जाते हैं, परंतु उनका उच्चारण नहीं होता। अंग्रेजी के वैयाकरण ऐसे वर्णों को silent वर्ण कहते हैं। उदाहरण के रूप में knife और night दोनों शब्दों में k और gh मौन लेखिम हैं। यही कारण है कि अमेरिकन अंग्रेजी भाषा में मौन वर्णों का प्रयोग न करने का प्रयास किया जा रहा है। जैसे–Labour - Labor;

9. **वर्णों का निश्चित उच्चारण**–नागरी लिपि की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक वर्ण का उच्चारण निश्चित है। शब्द में प्रत्येक स्थान पर यह वर्ण अपना सही उच्चारण देता है और अपनी उपस्थिति को स्पष्ट करता है। परंतु रोमन लिपि में ऐसा नहीं है। यहाँ Put - पुट, But - बट इन शब्दों से स्पष्ट होता है कि PUT शब्द में U उ की ध्वनि दे रहा है। परंतु But शब्द में U आ की ध्वनि दे रहा है। किंतु नागरी लिपि में ऐसा नहीं है। जैसे–सरपट, खटपट, दलबल आदि।

10. **वर्णों की लिखावट, कलात्मक, सुंदर और सुगठित**–देवनागरी लिपि का विकास ब्राह्मी लिपि से हुआ है। परंतु इसे वर्तमान रूप ग्रहण करने में 1000 वर्ष लग गए हैं। अन्य लिपियों की अपेक्षा नागरी लिपि के वर्ण बड़े ही कलात्मक, सुंदर व सुगठित हैं। ये बहुत कम स्थान घेरते हैं। हिन्दी से एक शब्द 'महेश्वर' लिया जा सकता है। यदि इसे रोमन लिपि में लिखा जाए तो यह अधिक स्थान घेरता है। जैसे – "Maheshwara".

11. **स्वर की ह्रस्वता और दीर्घता के लिए एक ही आकृति का प्रयोग**–देवनागरी लिपि की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें स्वरों की ह्रस्वता और दीर्घता एक ही आकृति में दी गई है और उसी में थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया गया है। जैसे–अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं आदि। पुनः इनके 25 व्यंजनों में पहला, तीसरा अल्पप्राण और दूसरा, चौथा महाप्राण होता है तथा स, ष, श, ह ऊष्म व्यंजन हैं। पाँचवाँ अनुनासिक य, र, ल, व अन्तःस्थ है।

12. **उच्चारण स्थल के अनुसार वर्णों का निर्माण**–नागरी लिपि की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें मुख विवर के उच्चारण स्थलों के अनुसार वर्णों का निर्माण व समायोजन किया गया है। ये पूर्णतः वैज्ञानिक हैं। जैसे–

    कण्ठ–अ, क, ख, ग, घ, ङ–कण्ठ्य–कवर्ग

    तालु–र, च, छ, ज झ, ञ–तालव्य–चवर्ग

    मूर्धा–ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण–मूर्धन्य–टवर्ग

    दन्त–लृ, त, थ, द, ध, न–दन्त्य–तवर्ग

    ओष्ठ–उ, प, फ, ब, भ, म–ओष्ठ्य–पवर्ग

यही नहीं, इसमें प्रत्येक वर्ग का पहला, तीसरा अल्पप्राण है, दूसरा और चौथा महाप्राण है और पाँचवाँ अनुनासिक है। इसके साथ-साथ स, ष, श, ह ऊष्म व्यंजन हैं। य, र, ल, व अन्तःस्थ व्यंजन हैं।

13. व्यंजनों की आक्षरिकता–नागरी लिपि के सभी व्यंजन 'अ' की सहायता से उच्चरित होते हैं। इसी को हम व्यंजनों की आक्षरिकता कहते हैं। उदाहरण के रूप में–क + अ–क, ख + अ–ख, ग + अ–ग आदि। ऐसा करने से समय की बचत होती है। रोमनलिपि में यह गुण नहीं है। जैसे–कमल–KAMALA आदि।

14. स्वर्ण प्रक्रिया के नियमों के आधार पर वर्णों में परिवर्तन (सन्धि–नियम)– कोई स्वनिम किस परिवेश में कौन-सा लक्षण प्राप्त करेगा, इसका ज्ञान भारतीय वैयाकरण को पहले से था और इसी नियम को ध्यान में रखकर संधि नियम बनाए गए थे। जैसे –

विद्‌या + आलय–विद्‌यालय

महा + इंद्र–महेन्द्र

सु + आगत–स्वागत

जगत् + नाथ–जगन्नाथ।

15. लेखन, टंकण और मुद्रण में एकरूपता–रोमन लिपि में वर्णमाला को तीन प्रकार से लिखा जाता है। उसमें लिखाई और छपाई में वर्णों की आकृति अलग-अलग होती है। साथ ही कुछ शब्दों में कैपिटल लेखिम लिखे जाते हैं। देवनागरी लिपि में ऐसा नहीं है। इसका कारण है कि इसमें लेखन, टंकण और मुद्रण की एकरूपता है।

16. अनुस्वार तथा ँ बिन्दु जैसे शुष्म लिपि चिह्नों की व्यवस्था–नागरी लिपि में अनुस्वार और ँ बिंदु के अलग-अलग लिपिचिह्न हैं और ये उच्चारण स्थलों को ध्यान में रखकर बनाए गए हैं। उदाहरण के रूप में हंस और हँस, रंग और रँगना, अंग और अँगिया, पंख और पँख आदि शब्दों में उच्चारण के सूक्ष्म भेद को दिखाया गया है। देवनागरी लिपि को और अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए निरंतर प्रयास चलते रहे हैं। उदाहरण के रूप में डॉक्टर में ॉ चिह्न को स्वीकार कर लिया गया है। इसी प्रकार फारसी शब्दों के लिए क, ख, ग, ज़ लिपि चिह्नों को भी जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार मराठी के वर्ण तथा ए और ओ ह्रस्वों रूपों को स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। इससे यह लिपि राष्ट्रीय लिपि बनने में समर्थ हो जाएगी। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि देवनागरी लिपि एक व्यावहारिक, विकासशील तथा वैज्ञानिक लिपि है। उसके स्वनिमों तथा लेखिमों में एकैकी संवाद है। यही कारण है कि अधिकांश विदेशी भाषा वैज्ञानिकों ने देवनागरी लिपि को सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि कहा है।

◆◆◆

4.4 नागरी लिपि का मानकीकरण

(Most Imp.)

1. देवनागरी लिपि के मानकीकरण के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

अथवा

देवनागरी लिपि के मानकीकरण का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

अथवा

देवनागरी लिपि की त्रुटियों पर प्रकाश डालते हुए उसमें होने वाले सुधारों के इतिहास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–देवनागरी लिपि का मानकीकरण–कोई भी लिपि जिस भाषा का प्रतिनिधित्व करती है, वह उसकी ध्वनियों को ध्यान में रखकर बनाई जाती है। आरंभ में वह लिपि उस भाषा के लिए प्रयुक्त होती है। लेकिन कालान्तर में भाषा की ध्वनियों में परिवर्तन होने लगता है और लिपि चिह्नों में कोई बदलाव नहीं आता। इसलिए कुछ लिपि चिह्न अनावश्यक हो जाते हैं और कुछ लिपि चिह्नों का अभाव खटकने लगता है। देवनागरी लिपि की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। समय के साथ इसमें कुछ त्रुटियां उत्पन्न हो गई हैं। यदि देवनागरी लिपि को मानक लिपि बनाना चाहते हैं तो उन त्रुटियों को दूर करना आवश्यक है। फिर भी देवनागरी लिपि को सर्वाधिक वैज्ञानिक और विकसित लिपि माना गया है। परंतु यह भी एक सच्चाई है कि संसार की कोई भी लिपि अपने आप में पूर्ण नहीं है। थोड़ी-बहुत कमी तो प्रत्येक लिपि में देखी जा सकती है। विशेषकर टंकण और मुद्रण के विकास

के बाद नागरी लिपि के कुछ दोष मुखर हुए हैं। देवनागरी लिपि के मानकीकरण का विवेचन करने से पहले उसकी त्रुटियों पर प्रकाश डालना आवश्यक होगा।

(1) देवनागरी लिपि की त्रुटियाँ–सामान्यतः देवनागरी लिपि में निम्नलिखित त्रुटियाँ हैं–

(i) नागरी लिपि में सर्वत्र एकरूपता का अभाव–नागरी लिपि में कुछ ऐसे स्वनिम हैं जिनके लिपि चिह्नों के प्रयोग में एकरूपता नहीं है। जैसे– र, (रथ), र्क (कर्क), क्र (क्रीतदास), ट्र (राष्ट्र)। इसी प्रकार इस लिपि में झ के लिए दो लिपिचिह्न हैं। जैसे–झ (फ) इस लिपि में दल –फ है। दो ण–ण है, दो छ– है। दो अ–प्र हैं। इनमें से अनावश्यक लिपिचिह्नों को हटाना चाहिए। केवल एक-एक लिपि चिह्नों का प्रयोग करना चाहिए।

(ii) लिपि की मात्राओं के प्रयोग में अव्यवस्था–कहीं कोई मात्रा ऊपर, कोई नीचे, कोई आगे, कोई पीछे लगाई जाती है। 'ए' की मात्रा अक्षर के ऊपर (के), 'उ', 'ऊ' की मात्रा अक्षर के नीचे (कु, कू) 'इ' की मात्रा अक्षर के पहले लगती है और बोलने में बाद में आती है (ि)। इसी प्रकार 'ई' की मात्रा बाद में लगती है– (ी)। इसमें एकरूपता का अभाव है और लिखने वाले को कठिनाई भी होती है।

(iii) क्योंकि शब्दों को पढ़कर यह पता लगाना कठिन है कि उसमें कितनी ध्वनियाँ हैं यथा–मर्म + म् + अ, र् + म् + अ।

(iv) यथा–गुप्त–गुप्त, अम्ब–अंब, संयुक्त–सम्युक्त, कहीं दूसरा व्यंजन आधा करके लिखा जाता है जैसे–क्रम, कर्म। कहीं-कहीं संयुक्त वर्ण नया रूप धारण कर लेते हैं; यथा–क् + ष = क्ष, त् + र = त्र, ज् + ञ = ज्ञ।

(v) जैसे–ख–खाना, अरराय (अरण्य) खाना और अरण्य का अररांय हो जाता है।

(vi) भ, म, घ, ध, भरा, मरा, घड़ी, धड़ी बन सकती है। इस लिपि में कुछ संयुक्त वर्ण स्वतंत्र व्यंजन बन गए हैं, क्ष, त्र आदि।

(vii) इसमें द्रविड़ लिपियों की तरह ह्रस्व 'ए' ह्रस्व 'ओ' का अभाव है उनके जैसे–ष, र, न भी नहीं हैं। इसमें मराठी लिपि जैसे च, ज आदि नहीं हैं। कश्मीरी वर्त्स्य–च, ज, य ध्वनियाँ भी नहीं हैं।

(viii) लुप्त उच्चारण वाले वर्णों की समस्या–हिन्दी भाषा में ऋ, ष, ॠ, ऌ ध्वनियाँ पूर्णतया अनावश्यक हो चुकी हैं। फिर भी इन ध्वनियों के लिपि चिह्नों को देवनागरी में स्थान दिया जा रहा है जिसके फलस्वरूप इसकी वैज्ञानिकता पर प्रश्न चिह्न लगाया जाता है।

(ix) अंकों में द्वैधता की समस्या–देवनागरी लिपि में मूलतः ये लिपि चिह्न हैं १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९। इसके साथ-साथ रोमन लिपि के 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9 लिपिचिह्न भी प्रचलित हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हिंदी के लिपि चिह्नों को हटाकर रोमन लिपि के चिह्न ही स्वीकार कर लेने चाहिएँ। विशेषकर टंकण तथा मुद्रण में बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। इसका संशोधन करना शिल्पकारों का काम है।

(x) नासिक्य ध्वनियों के लेखन में अनेकरूपता–देवनागरी लिपि में अनुस्वार, बिन्दु आदि नासिक्य ध्वनियों में किसी निश्चित नियम का पालन नहीं किया जा रहा है, जिससे भाषा में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है। उदाहरण के रूप में चम्पा भी लिखा जाता है और चंपा भी। इसी प्रकार दण्ड भी लिखा जाता है और दंड भी। इसी प्रकार कुंज भी लिखा जाता है और कुँज भी। इसी प्रकार अधिकांश लोग कहीं ँ बिंदु लगाते हैं और कहीं नहीं लगाते। ँ बिंदु और अनुस्वार के भेद को समझना नितांत आवश्यक है।

(2) देवनागरी लिपि में सुधार–देवनागरी लिपि का मानकीकरण करने के लिए काफी समय से सुधारों के प्रयास चल रहे हैं। संसार की प्रत्येक लिपि अपनी त्रुटियों को दूर करने के लिए सुधारों को अपना रही है। हिंदी के विद्वानों ने देवनागरी लिपि का मानकीकरण करने के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी स्तर पर अनेक प्रयास किए हैं जिनका विवरण इस प्रकार है–

(i) बाल गंगाधर तिलक के प्रयत्न–सर्वप्रथम लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक 'केसरी' नामक पत्रिका का संपादन कर रहे थे, जिसमें उन्होंने 1904 में देवनागरी लिपि में सुधारों की चर्चा की। उन्होंने 190 टाईपों का फौंट बनवाया जो कि तिलक–टाइप के नाम से आज भी प्रसिद्ध है।

(ii) सेवाग्राम लिपि सुधार के प्रयत्न–'सेवाग्राम लिपि सुधार समिति' को [illegible] 'अ' पर मात्राएँ लगाकर और काका कालेलकर का सहयोग प्राप्त हुआ। इस समिति ने यह सुझाव दिया कि 'अ' पर मात्राएँ लगाकर सभी स्वरों की जानकारी दी जानी चाहिए। जैसे–अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, ओ, अं, अः। महात्मा गाँधी ने भी इस सुझाव का समर्थन किया। राष्ट्रभाषा परिषद् वर्धा द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में इस संशोधन के अनुसार लिपिचिह्नों का प्रयोग किया, परंतु यह प्रयोग सफल न हो सका।

(iii) डॉ. श्यामसुंदर दास का सुझाव–डॉ. श्यामसुंदर दास ने यह सुझाव दिया कि नागरी लिपि के प्रत्येक वर्ग के पञ्चम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किया जाना चाहिए। यथा–अङ्क के स्थान पर अंक, दण्ड के स्थान पर दंड, मञ्च के स्थान पर मंच, दन्त के स्थान पर दंत आदि का प्रयोग होना चाहिए। इस सुझाव का नागरी लिपि में कुछ सीमा तक पालन किया जा रहा है।

(iv) श्रीनिवास का सुझाव–काशी के विद्वान श्रीनिवास ने यह सुझाव दिया कि महाप्राण ध्वनियों के लिपि चिह्नों को हटाकर उनके स्थान पर अल्पप्राण ध्वनियों के लिपि चिह्नों के नीचे कोई चिह्न लगा दिया जाए ताकि कुछ लिपि चिह्न घट जाएं। जैसे–क़, ख, च़, छ, त़ थ आदि।

(v) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के सुझाव–हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयोग के तत्त्वावधान में सन् 1935 में एक अधिवेशन हुआ जिसके सभापति महात्मा गाँधी थे। इसमें एक नागरी लिपि सुधार समिति का गठन किया गया जिसमें निम्नलिखित सुझाव दिए गए–

(i) शब्दों पर शिरोरेखा लगाना आवश्यक नहीं है।

(ii) प्रत्येक वर्ण तथा मात्रा उच्चारण क्रम में लिखी जानी चाहिए। जैसे–कुल, मूल, खेल, शैल, धर्म आदि।

(iii) इ की मात्रा 'ि' भ्रामक है। इस भ्राँति से बचने के लिए 'इ' और 'ई' की मात्राओं में परिवर्तन करके मात्रा ि के नीचे के भाग को बाएँ ी और ई की मात्रा ी के नीचे के भाग को दाएँ घुमाएँ ि।

(iv) पूर्ण विराम के लिए । का प्रयोग करना चाहिए।

(v) अनुस्वार तथा अनुनासिक संकेतों का प्रयोग उच्चारण–क्रम में दाहिनी ओर हटकर करें; यथा–चंद > चं द, चाँद > चा ँद।

(vi) घ–ध और भ–म की भ्रामक स्थिति समाप्त करने के लिए ध और भ को घुण्डीदार बनाएँ, यथा–ध, भ।

(vii) प्रेम, क्रीम, त्रुटि आदि संयुक्त वर्णों में स्वतंत्र 'र' का प्रयोग करें, यथा प्रेम > प्रेम, क्रीम > क्रीम, त्रुटि > तुरटि आदि।

(vi) उत्तर प्रदेश सरकार प्रथम प्रयत्न–उत्तर प्रदेश सरकार ने राज्यपाल आचार्य नरेंद्र देव की अध्यक्षता में नागरी सुधार समिति का 31 जुलाई, 1947 को गठन किया। इस समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिए–

1. शिरोरेखा का प्रयोग न किया जाए।
2. जिन व्यंजनों के उत्तरार्द्ध में खड़ी पाई न हो, उनके संयुक्त रूप बनाते समय उसमें हलन्त का प्रयोग करना चाहिए। जैसे–गद्दी, गड्ढा।
3. 'इ' की मात्रा को दायीं ओर लगाते समय उसकी लंबाई आधी कर देनी चाहिए। जैसे–मिलना, मीलना दिल > दील आदि।
4. घ, ध, भ, म के भ्रम को दूर करने के लिए ध और भ में घुण्डी का प्रयोग करना चाहिए जैसे ध और भ।
5. यांत्रिक प्रयोग के लिए लिपि में अनावश्यक सुधार नहीं करना चाहिए।

6. पूर्ण विराम को खड़ी पाई के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

7. अनुस्वार के लिए शून्य (0) तथा अनुनासिक के लिए बिन्दु (.) का प्रयोग होना चाहिए।

8. संयुक्त वर्णों (क्ष, त्र, ज्ञ आदि) को यथासाध्य निकाल देना चाहिए।

(vii) उत्तर प्रदेश सरकार द्वितीय प्रयत्न—नागरी प्रचारिणी सभा के कहने पर उत्तर प्रदेश सरकार ने एक दूसरी लिपि 'सुधार परिषद्' का गठन 28 नवंबर, 1953 को किया। इसकी अध्यक्षता उप-राष्ट्रपति राधा कृष्णन् ने की। इसमें 14 प्रदेशों के मुख्यमंत्रियों, शिक्षा मंत्रियों तथा भाषा वैज्ञानिकों ने भाग लिया। इसमें निम्नलिखित सुझाव दिए गए—

(i) ध, भ के समान छ को भी घुण्डीदार 'छ' बनाएँ।

(ii) संयुक्त वर्णों को स्वतंत्र वर्णों के समान लिखना चाहिए। परिषद् ने इस प्रथम बैठक के सुझावों को ज्यों-के-त्यों मान लिया।

देवनागरी लिपि के सुधार का मूल्यांकन

देवनागरी लिपि के सुधारों के लिए पंजाब-हिन्दू महासभा, दक्षिण हिंदी प्रचार सभा, राष्ट्र भाषा प्रचार समिति वर्धा, बिहार—राष्ट्र भाषा परिषद्, हिन्दी प्रचार परिषद्, बेंगलरू के अतिरिक्त डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. भोलानाथ तिवारी, डॉ. हरदेव बाहरी, डॉ. देवी शंकर द्विवेदी, डॉ. कैलाश चंद्र भाटिया आदि ने विशेष योगदान दिया है। इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(i) विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि शीघ्र लेखन के लिए स्वर की मात्राओं का यथावत् प्रयोग होना चाहिए।

(ii) 'र' के लिए जो चार रूप प्रचलित हैं, उनके लिए स्वतंत्र संकेतों का प्रयोग किया जाना चाहिए। जैसे—रथ > रथ, क्रम > करम, ड्रम > ड्रम, मर्म > मरम।

(iii) जिन वर्णों के लिए दो लिपि चिह्न मिलते हैं, उनके लिए निम्नलिखित चिह्नों का प्रयोग किया जाना चाहिए। जैसे—अ, झ, ण, ल, छ, श आदि।

(iv) दो वर्णों के समान प्रयोग से प्रायः भ्रांति उत्पन्न होती है। जैसे (खाना > खाना) (धाम > धाम)। (ख > ख, घ > ध, भ > भ और रा के स्थान पर ण का प्रयोग होता है।

(v) संयुक्त वर्णों के स्थान पर स्वतंत्र ध्वनियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। जैसे—क्ष > क्ष, त्र > त्र, ज्ञ > ज्ञ, श्र > श्र, क्त > क्त आदि।

(vi) अरबी, फारसी ध्वनियों के लिए क़, ख़, ग़, ज़, फ़ लिपि चिह्नों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(vii) अंग्रेजी की 'ऑ' ध्वनि का हिन्दी में प्रयोग होने लगा है; यथा—डॉक्टर, कॉलेज, बॉल आदि। विद्वानों ने इसे 'चन्द्रांक' लिपि चिह्न का नाम दिया है।

(viii) पूर्ण विराम के स्थान पर खड़ी पाई (।) का प्रयोग होना चाहिए।

(ix) अनुनासिक और अनुस्वार के सही उच्चारण और लेखन को स्पष्ट करने के लिए अनुनासिक (ँ), अनुस्वार —ं का प्रयोग होना चाहिए। जैसे— चाँद में (ँ) तथा मंगल में (—ं) का प्रयोग होता है।

(x) नागरी के प्रत्येक अंक के लिए एक चिह्न का प्रयोग करना चाहिए, नागरी के नौ अंक के लिए चार संकेतों, छह के लिए तीन और आठ के लिए दो संकेतों के प्रयोग मिलते हैं। इनमें सरलतम बहुप्रयुक्त चिह्न रूप ही (३, ६) अपनाना चाहिए।

संक्षेप में कह सकते हैं कि देवनागरी लिपि की त्रुटियों को यथासंभव दूर करके व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए।

◆◆◆

4.5 हिन्दी कंप्यूटिंग : कंप्यूटर परिचय एवं महत्त्व

1. कम्प्यूटर का परिचय देते हुए उसके भाषिक प्रयोग की उपयोगिता सिद्ध कीजिए। **(Imp.)**

अथवा

हिन्दी में उपलब्ध कम्प्यूटर सुविधाओं पर प्रकाश डालिए।

अथवा

कम्प्यूटर का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

अथवा

कम्प्यूटर का सामान्य परिचय देते हुए उसके प्रमुख अंगों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–कम्प्यूटर के विकास का सामान्य परिचय–वास्तव में कम्प्यूटर मानव-निर्मित एक ऐसी मशीन है जो मानव-मस्तिष्क की तुलना में अधिक तीव्र गति के साथ गणना कर सकती है। 'कम्प्यूटर' शब्द में कम्प्यूट (*Compute*) शब्द निहित है जिसका अर्थ होता है–गणन करना। इस प्रकार इस क्रिया के साथ '*er*' प्रत्यय लगाकर 'कम्प्यूटर' शब्द बना, जिसका अर्थ हुआ-गणना करने वाली मशीन। कम्प्यूटर को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है–**"कम्प्यूटर तीव्र गति से गणना करने वाली तथा सूचनाओं को संसाधित करने वाली वह मशीन है जो मनुष्य की अनेक जटिल समस्याओं का समाधान करती है।"**

यद्यपि कम्प्यूटर के आविष्कार से पहले चीन में 600 ई. पूर्व ही **'अबाकस'** नामक गणना मशीन बनाई जा चुकी थी। परन्तु **चार्ल्स बाबेन** को 'आधुनिक कम्प्यूटर का जनक' कहा जाता है। वर्तमान युग के कम्प्यूटर का अनेक दशकों तक हजारों वैज्ञानिकों के सतत् प्रयास से ही वर्तमान स्वरूप अस्तित्व में आया। इस क्षेत्र में 'सिलिकान चिप' का प्रयोग एक बड़ी घटना थी जिसने कम्प्यूटर के आकार को छोटा तथा उसकी क्षमता में कई गुणा वृद्धि की।

कम्प्यूटर के प्रमुख अंग–कम्प्यूटर के मुख्यतः निम्नलिखित अंग होते हैं–

(i) इनपुट डिवाइस–इसे निवेश-यंत्र भी कहा जा सकता है। इसका प्रमुख कार्य कम्प्यूटर में आँकड़े भरना है। वैसे तो कम्प्यूटर में इनपुट डिवाइस के नाम पर फ्लापी ड्राइव, सी. डी. रोम, स्कैनर आदि को भी सम्मिलित किया जा सकता है परन्तु इन सभी यंत्रों की तुलना में की-बोर्ड का सर्वाधिक महत्त्व है।

(ii) सेन्ट्रल प्रोसेसिंग यूनिट अर्थात् केन्द्रीय संसाधन इकाई–इसे सी. पी. यू. भी कहा जाता है। यह कई भागों में बाँटा जा सकता है। जैसे–

(क) कन्ट्रोल यूनिट–इसके द्वारा कार्यों का नियमन किया जाता है। इसे नियन्त्रण एकक भी कहा जाता है।

(ख) मेमोरी यूनिट–इसे स्मृति इकाई भी कहा जाता है। इसका प्रमुख कार्य कम्प्यूटर में भरे गए आँकड़ों को सुरक्षित रखना है।

(ग) अंकगणित इकाई–इसके द्वारा तार्किक व गणना के कार्य किए जाते हैं।

(iii) आऊटपुट डिवाइस अथवा निर्गम यंत्र–इस यंत्र का मुख्य कार्य सी. पी. यू. से सूचना एकत्र कर उन्हें मनुष्य द्वारा पढ़ने लायक बनाना है। इसमें फ्लापी ड्राइव, सी. डी. प्लेयर, प्रिंटर आदि आते हैं।

इनके अतिरिक्त कम्प्यूटर में अधिक सूचनाओं को एकत्र करने के लिए वृहद भण्डारण इकाई को भी लगाया जा सकता है।

इन सभी अवयवों के लिए चित्र (क) देखें—

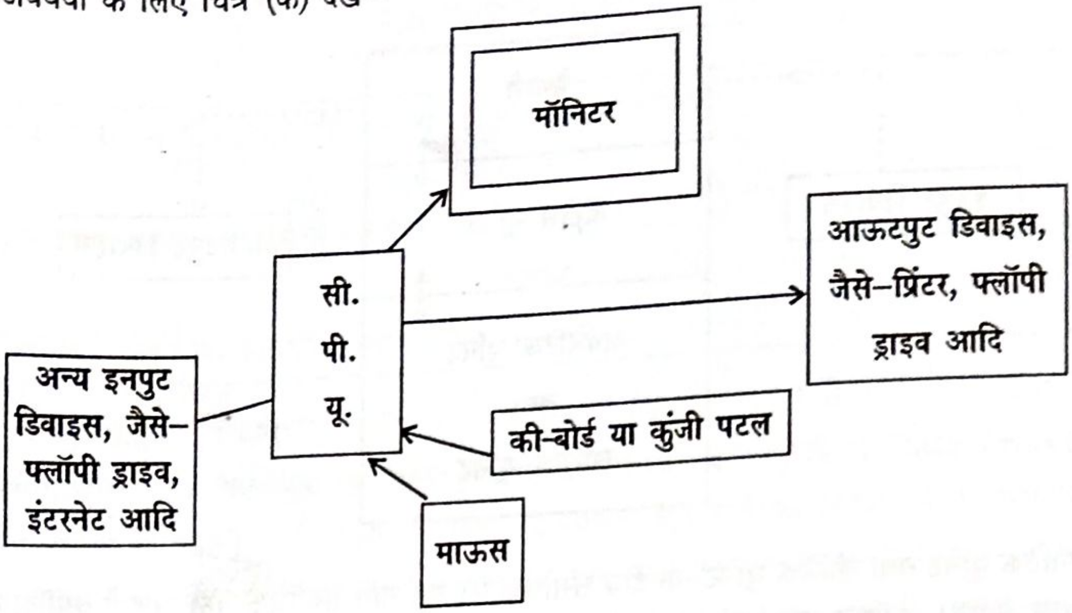

चित्र (क)

इन सभी अवयवों में से सी.पी.यू. सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव है। इसे कम्प्यूटर का मस्तिष्क भी कहा जाता है। इसे मुख्यतः तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(क) मैमोरी (ख) कंट्रोल यूनिट (ग) अर्थ मैटिक एवं लॉजिक यूनिट

केन्द्रीय संसाधक यूनिट—

यह कम्प्यूटर का मस्तिष्क कहलाता है। इनपुट डिवाइस द्वारा जितने भी आँकड़ें कम्प्यूटर में भरे जाते हैं, वे इसी भाग में सुरक्षित होते हैं। इन आँकड़ों में परिवर्तन किया जा सकता है, उनकी कई प्रतिलिपियाँ बनाई जा सकती हैं तथा यह भाग आऊटपुट डिवाइस के द्वारा इन परिवर्तित, संवर्द्धित आँकड़ों को मानवोपयोगी बनाकर बाहर भेजता है। इस यन्त्र को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) मैमोरी (ख) कंट्रोल यूनिट (ग) अर्थ मैटिक एवं लॉजिक यूनिट।

(क) **मैमोरी**—इसे प्राथमिक स्मृति भी कहा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य जो कुछ सुनता या देखता है तो वह शीघ्र ही से याद कर लेता है, ठीक उसी प्रकार कम्प्यूटर में भी जब किसी सूचना का आदान-प्रदान किया जाता है तो वह सबसे पहले उसके सी.पी.यू. में स्थित मैमोरी में एकत्र हो जाती है। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य यदि किसी घटना या बात को बार-बार याद न करे तो वह भूल जाता है, उसी प्रकार कम्प्यूटर की प्राथमिक स्मृति अथवा मैमोरी भी अस्थायी होती है। इसमें केवल तभी तक सूचनाएँ एकत्र रहती हैं जब तक कि उसमें निरंतर विद्युत् प्रवाह बना रहता है। अतः इसमें एकत्र सूचना को कम्प्यूटर में स्थायी रूप से बने रहने के लिए इसकी मुख्य स्मृति में भेजना होता है। सूचना को मुख्य स्मृति में भेजने के लिए कम्प्यूटर को माऊस या कुँजी पटल (*Control + S*) के द्वारा आदेश देना पड़ता है। इसके पश्चात् वह सूचना कम्प्यूटर में स्थायी हो जाती है।

(ख) **कंट्रोल यूनिट**—केन्द्रीय संसाधक इकाई का यह भाग निर्देशक और नियंत्रक का काम करता है। यह एक ऐसा यन्त्र है जो मनुष्य की भाषा व कम्प्यूटर की भाषा के बीच सेतु का काम करता है। वस्तुतः कम्प्यूटर 0 तथा 1 का प्रयोग करके सभी कार्य निष्पादित करता है। जबकि मनुष्य उसे अनेक शब्दों, वर्णों से युक्त भाषा का माध्यम से आदेश देता है। यह एक ओर तो मैमोरी से सूचना का आदान-प्रदान करता है तो दूसरी ओर अर्थमैटिक यूनिट व लॉजिक यूनिट के साथ सामंजस्य स्थापित करता है।

इस यूनिट की स्थिति व कार्य को निम्न चित्र द्वारा भी समझा जा सकता है–

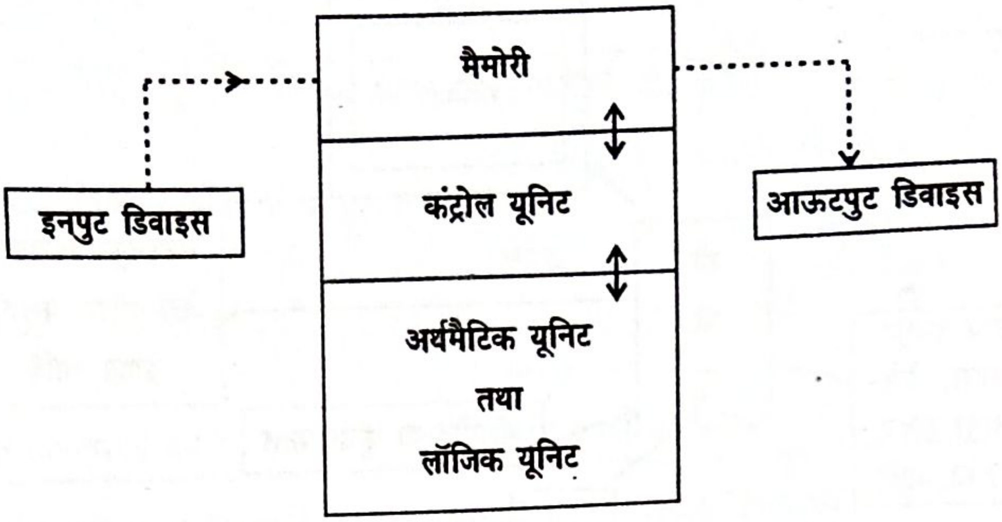

(ग) **अर्थमैटिक यूनिट तथा लॉजिक यूनिट**–केन्द्रीय संसाधक का यह भाग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यही भाग कम्प्यूटर के तर्क, गणित संबंधित कार्यों को करता है। इसमें गणित के सभी कार्य; यथा–जमा, घटा, भाग, गुणा आदि का कार्य होता है। यह दो या अधिक वस्तुओं, राशियों आदि परस्पर तुलना करके उनके महत्तम या लघुत्तम रूप को दर्शा सकता है।

यहाँ केन्द्रीय संसाधक यूनिट के तीनों अंगों के कार्य को निम्न चित्र द्वारा समझा जा सकता है–

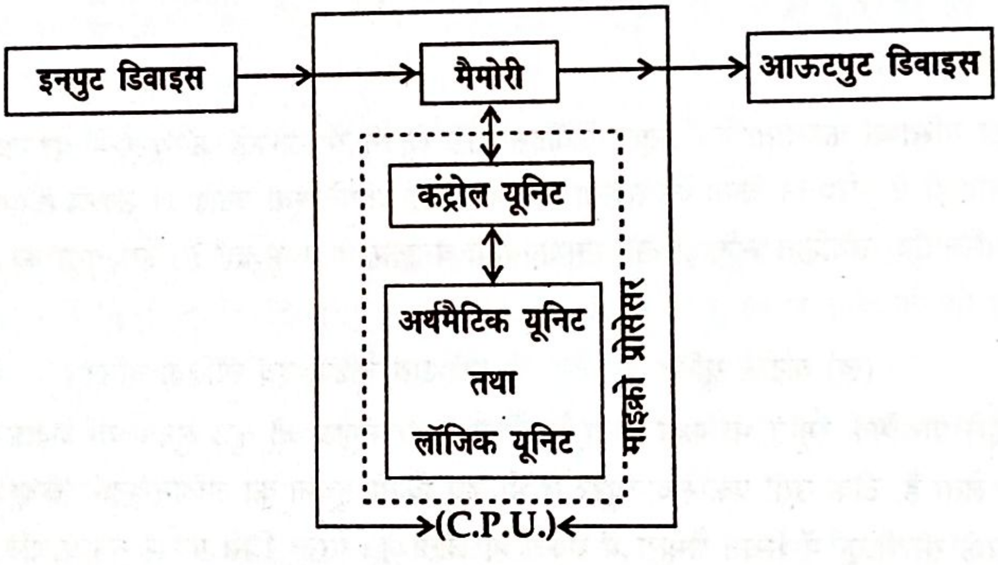

कम्प्यूटर व हिन्दी-भाषा

कम्प्यूटर के जनक व सभी प्रसिद्ध वैज्ञानिक विदेशी थे जो रोमन लिपि की भाषाओं के जानकार विशेषकर अंग्रेजी भाषी थे। यही कारण है कि सभी कम्प्यूटरों पर अंग्रेजी भाषा में कार्य करने की सर्वाधिक सुविधा होती है। परन्तु एक ओर जहाँ कम्प्यूटर शुद्ध गणना के लिए विख्यात है, वहीं हिन्दी भाषा अपनी वैज्ञानिकता के लिए भी विख्यात है। अब अधिकांश कम्प्यूटर-वैज्ञानिक इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि कम्प्यूटर के लिए संस्कृत भाषा सर्वाधिक उपयोगी है। वैसे भी विश्व में हिन्दी भाषी लोगों के मध्य इसे लोकप्रिय बनाने का इसका प्रचलन करने के लिए हिन्दी में कार्य करने वाले कम्प्यूटर भी उपलब्ध हैं।

◆◆◆

4.6 आंकड़ा संसाधन

1. हिन्दी कम्प्यूटर के सन्दर्भ में आंकड़ा संसाधन का सविस्तार वर्णन कीजिए। (Most Imp.)

अथवा

हिन्दी कम्प्यूटर आंकड़ा संसाधन प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

कम्प्यूटर में वर्तनी संसाधन को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–कम्प्यूटर का प्रयोग केवल मुद्रण के लिए ही नहीं होता बल्कि अन्य बहुत से क्षेत्रों में भी इसका प्रयोग होता है। इनमें से आंकड़ा संसाधन का क्षेत्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। आंकड़ा संसाधन को अंग्रेजी में Data Processing कहते हैं। आंकड़ा संसाधन का अर्थ है कि कम्प्यूटर में किसी भी प्रकार की व्यापक सूचनाओं का निवेश करना। तत्पश्चात् उन सूचनाओं को आवश्यकतानुसार तार्किक और गणितीय गणना के पश्चात् प्राप्त करना। उदाहरण के रूप में चार जनगणनाओं के पत्रकों के विवरण को कम्प्यूटर में निवेश कर लिया जाता है। इन पत्रकों की रचनाएँ व्यापक और आयामी होती हैं। लिंग भेद, व्यवसाय भेद, जाति भेद, धर्म भेद तथा आय भेद सम्बन्धी चार वर्षों की सभी सूचनाएँ कम्प्यूटर में निविष्ट कर ली जाती हैं। इसके बाद आवश्यकता पड़ने पर चार वर्षों की जनगणना का संयुक्त आंकड़ा प्राप्त कर लिया जाता है। साथ ही विभिन्न जनगणनाओं की भिन्नता, समानता की भी सूचना प्राप्त की जाती है। यह सब हमें Data Processing अर्थात् आंकड़ा संसाधन द्वारा प्राप्त होती है। इसकी व्यापकता इसे राष्ट्र और समाज के लिए उपयोगी बनाती है। यही कारण है कि आज राष्ट्र और समाज के सभी क्षेत्रों में आंकड़ा संसाधन का अत्यधिक उपयोग हो रहा है। इस संसाधन की अत्यधिक विशेषता यह है कि सेकण्डों में गणितीय प्रक्रिया द्वारा तथ्य प्राप्त हो जाते हैं। साथ ही उनके परिणाम भी प्राप्त कर लिए जाते हैं। इसके परिणाम बड़ी शीघ्रता से मिलते हैं और इन परिणामों में सूक्ष्मता के साथ शुद्धता भी होती है। यही विशेषताएँ कम्प्यूटर को हमारे लिए उपयोगी बनाती हैं। आंकड़ा संसाधन की पाँच प्रक्रियाएं हैं–

1. **आंकड़ा निवेश साधन के द्वारा विभिन्न सूचनाओं को कम्प्यूटर में निवेश कर दिया जाता है।**
2. **गणितीय प्रक्रियाएँ**–निवेशित आंकड़ों तथा सूचनाओं में गणित सम्बन्धी योगात्मक, ऋणात्मक, गुणात्मक, विभाजनात्मक तथा अनुपातात्मक आदि अनेक प्रकार की प्रक्रियाएँ होती हैं।
3. **तार्किक एवं तुलनात्मक प्रक्रियाएँ**–गणितीय प्रक्रियाओं के बाद तार्किक आधार पर तथ्यों का मूल्यांकन किया जाता है। विभिन्न आंकड़ों के आधार पर विभिन्न आंकड़ों तथा सूचनाओं में समानता, असमानता, अनुपातिकता आदि विश्लेषण प्राप्त हो जाता है।
4. **संग्रहण एवं पुनर्प्रस्तुति प्रक्रियाएँ**–इन व्यापक सूचनाओं और आंकड़ों का कम्प्यूटर में संग्रहण कर लिया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर उनको पुनः प्रस्तुत कर लिया जाता है।
5. **निकास प्रक्रिया**–कम्प्यूटर में निवेशित आंकड़े अथवा सूचनाएँ केवल गुणा-भाग के लिए ही नहीं होतीं और न ही उनको कम्प्यूटर स्क्रीन पर देखा जाता है, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर प्रिंटर द्वारा कागज पर उनकी प्रतियाँ प्राप्त कर ली जाती हैं और ये सूचनाएँ जिस विभाग को चाहिए, उसे भेज दी जाती हैं।

आंकड़ा संसाधन की इस प्रक्रिया को इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

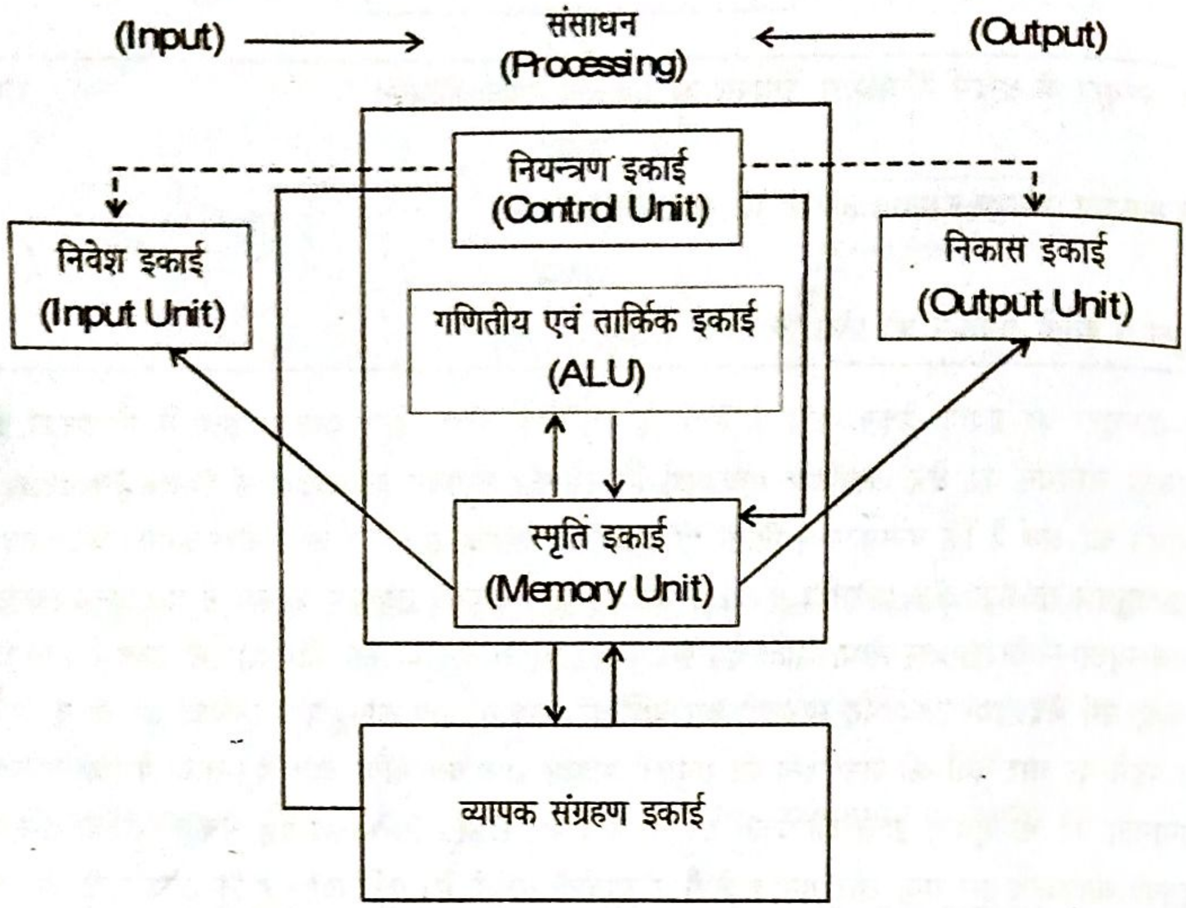

हिन्दी आंकड़ा संसाधन

हिन्दी में आंकड़ों के संसाधन के लिए द्विभाषीय संकलक उपलब्ध है। इनका प्रयोग केवल डॉट मैट्रिक्स अथवा लेजर प्रिंटर के साथ किया जाता है। हिन्दी के लिए कम्प्यूटर की जो विभिन्न भाषाएँ (बेसिक कंपाइलर, देव बेस) के द्वारा तैयार किए जाते हैं। फ्लॉपी में सुलिपि सॉफ्टवेयर का प्रयोग करके बिना किसी परिवर्तन के पर्सनल कम्प्यूटर को भी हिन्दी तथा अंग्रेजी में चलाया जा सकता है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि डी-बेस, फाक्स-प्रो, कोबोल पास्कल एक्सल, लोटस ओरेक्कल आदि पैकेजों को भी सुलिपि सॉफ्टवेयर द्वारा द्विभाषा में चलाया जाता है। इलैक्ट्रॉनिकी विभाग में देवनागरी की मानकीय कुंजी पटल तैयार कर लिया है। यही कारण है कि हिन्दी मैन्युयल टाईपराईटर के कुंजीपटल दोनों के लिए सुसंगत है। गिलिस कम्प्यूटर पर द्विभाषिक रूप में कार्य करने के लिए पूर्ण रूप से सॉफ्टवेयर प्रक्रिया आज बाजार में उपलब्ध है। यह एच. जी. ए., बी. जी. ए. तथा मनोक्रोम मॉनीटर लगे पी. सी. पैन्टियम आदि पर डॉस में काम करता है। अब जिस्ट कम्प्यूटर चिप से डॉस, विन्डोस, यूनिक्स आदि के द्वारा सभी भारतीय भषाओं में न केवल शब्द, संसाधन बल्कि आंकड़ा संसाधन का भी काम हो सकता है अब तो डी.टी.पी. वर्डस आदि के माध्यम से हिन्दी में तालिका, बैलेंस सीट, पुस्तक आदि को विविध फ़ाण्ट्स, आकार, शैली के आधार पर तैयार किया जाता है।

भाषा प्रौद्योगिकी कम्प्यूटर प्रणतियों के बारे में ही शोध करती है जो मौखिक तथा लिखित मानवीय भाषाओं के बोधन तथा संश्लेषण का कार्य करती है। इस सन्दर्भ में वाक् संसाधन, आंकड़ा संसाधन, सूचना, मशीनी अनुवाद, पाठ संश्लेषण आदि सम्मिलित हैं। इस सन्दर्भ में इस्की, इस्फोक, यूनिक कोड आदि का उल्लेख करना आवश्यक होगा। भारतीय मानक ब्यूरो ने इस्की नाम से एक मानिक का निर्माण किया है। इसे सात या आठ बिट वर्णों का प्रयोग करते हुए सभी कम्प्यूटरों तथा संचार माध्यमों में प्रयोग किया जा सकता है। इस्फोक एक वर्ण सैट है जिसमें बहुधा प्रयुक्त अधिकांश भाषाएँ, वर्ण, चिह्न आदि सम्मिलित हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर यह सैट भी इस्फोक वर्ण के ही समान है। सूचना विनिमय के सन्दर्भ में यूनिट कोड की स्वीकृति सम्पूर्ण विश्व में बढ़ती जा रही है। सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र की अधिकांश कम्पनियाँ इसमें सहयोग दे रही हैं। वस्तुतः यूनिक कोड आधुनिकतम सरकारी मानक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आंकड़ा संसाधन के क्षेत्र में काफी कुछ काम चल रहा है। हिन्दी आंकड़ा संसाधन निरन्तर प्रगति के मार्ग पर अग्रसर है।